द्वितीय संस्करण

२०११ वि०

मूल्य
१॥)

श्रीरामकिशोर गुप्त द्वारा
साहित्य प्रेस, चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित ।

श्रीराम

निवेदन

अपने कारा-वास की स्मृति के रूप में, 'कारा' नाम से, वहीं मैंने इस रचना का आरम्भ किया था। बहुत दिनों तक यह अधूरी पड़ी रही। इधर जब मैं इसे पूरा कर सका तब इसके प्रमुख पात्र के नाम पर ही इसका नाम-संस्कार कर देना उचित जान पड़ा।

पुस्तक में वर्णित अनेक घटनाएँ सच्ची हैं। उनके देश, काल और पात्र ही विभिन्न हैं। उन्हीं विभिन्नताओं को मैंने अपने शब्दों में एकत्र कर दिया है। विशेषताओं के भागी दूसरे हैं, न्यूनताएँ मेरी हैं।

मेरे एक गुरुजन मुझे अपना प्रिय पुराण पन्थ छोड़ दोषी और दण्डितों के साथ जाते देखकर चिन्तित हुए थे। फिर भी कौतूहल मुझे खींच ही ले गया। पाठकों को अधिकार है, वे मेरे गुरुजन की चिन्ता का साथ दें किंवा मेरे कौतूहल का।

चिरगाँव — मैथिलीशरण

मार्गशीर्ष, मोक्षदा एकादशी

२००१

तब जीवन का गान, बजे जब मारू बाजा,
मेरा शासक कौन ! आप मैं अपना राजा !

किसे ?
कौन लेगा
इसे !

श्रीगणेशाय नमः

अजित

[१]

राम, हमारे राम, तुम्हारे बने रहें हम,
जीवन के संघर्ष हर्ष के संग सहें हम।
प्रभो, मुक्ति दो हमें, हाय! किस भाँति कहें हम?
बँधे गुणों से रहें, जहाँ भी क्यों न रहें हम!

सुनकर कारा नाम न चौंको, आस्तिक, आओ,
तुम निज मोहन और दास दोनों को पाओ।
पापात्मा से स्वयं स्वर्ग में नरक सनेगा,
पुण्यात्मा से किन्तु नरक भी स्वर्ग बनेगा।
हम सौ सौ की यहाँ एक ही करुण कहानी,
व्यथा यही, इस कथा-योग्य मिल सकी न वाणी।
कहाँ रोष की अग्नि, दग्ध दोषों को कर दे?
वह सुवर्ण-निधि कहाँ, अर्थ-कोषों को भर दे?

छुटपन में ही मुझे सदा को छोड़ गई माँ,
पर दद्दू ने मुझे न ला दी और नई माँ।
गाय, माय वा धाय बनी वह श्यामा गौरी,
गई रँभाती हुई पुरोहित के घर धौरी।

कुछ कुछ सुध है मुझे शुष्क-से माँ के मुख की,
कही न कोई बात उन्होंने सुख की दुख की।
मानो मेरा हाथ, पिता का पैर पकड़ कर
वे चिर निद्रित हुईं खाट से नीचे पड़ कर।
परिजन कहते—"दिला लायेंगे हम फिर मैया।
किन्तु दिखाते पिता मुझे वह श्यामा गैया।
जमींदार तो नहीं, बड़े मौरूसी थे वे,
जो हो, मिलते मुझे दूध - घी - शक्कर - मेवे।

लिया बाप ने ठौर आप माँ का भी जैसे,
पाला-पोसा मुझे, पढ़ाया भी कुछ कैसे।
मैं बढ़ता ही गया एक से दो दो पाकर,
घर में था एक तीसरा चतरा चाकर।
उस चमार को मिली यहाँ ब्राह्मण की बाणी,
निज गुण से वह बना हमारे घर का प्राणी।

माँ तो नहीं, परन्तु पिता ने बहू [illegible],
बेटी-सी कुछ समय पूर्व ही वह घर आई।
घर की गति-विधि उन्हें उसे जो दिखलाती थी
बाहर की भी रीति-नीति सब सिखलाती थी।
कर्त्ता-धर्त्ता सभी पिता, मैं केवल द्रष्टा;
वे समक्ष थे, पर अलक्ष था मेरा स्रष्टा।
खाता-पीता और अखाड़े में मैं लड़ता,
रहता निडर, परन्तु किसीसे नहीं झगड़ता।

रहे गाँव में और पेट भर कर खाता हो,
माथा ऊँचा किये हुए आता जाता हो,
तो उस पर शनि-दृष्टि पड़ेगी क्यों न पुलिस की?
पूजा देकर शान्ति करो जैसे हो इसकी।
बचता रहूँ, परन्तु न था मैं चोर-उचक्का,
पर रह जाना पड़ा मुझे तब हक्का-बक्का।

जब औचक आ धरा दरोगा के दल-बल ने,
पाया भी मैं नहीं सबेरे जाग सँभलने।
तन मे बल था और अखाड़े का कौशल था,
मन मे किन्तु न छूट भाग जाने का छल था।
पुलिस पकड़ ले मुझे, न्याय से मैं छूटूँगा,
अपना यह अपमान गर्व से ही घूटूँगा।
हँसा दरोगा—"न्याय वही जो कुछ मैं कर दूँ,
हाकिम गड़बड़ करे, बाँध उसको भी धर दूँ।
कितने जज कप्तान कलक्टर मैंने देखे,
जन्ट लठ, डी० एम० हैम हैं मेरे लेखे।
मैं क्या जानूँ, बात उसीकी सच्ची होगी.
एक वर्ष के लिए हुआ मैं कारा - भोगी।

[२]

मेरा कारागार गाँव था छोटा मोटा,
जिसके चारों ओर उठा ऊँचा परकोटा।
उसके भीतर साथ साथ थे खेत तथा घर
घर मानो छड़दार छिन्न पशुओं के पिंजर!
इन पिंजड़ों मे एक एक मे सौ सौ वन्दी,
हो जाती है हवा आप ही इनकी गन्दी।
ऊमस मे भी वन्द रात मे मरना होगा,
आड़ विना मल-मूत्र, इन्हींमे करना होगा।
जिस जन का यह गृह विधान वह वनचर अब भी,
पहने बीनों वसन लाज उसको क्या तब भी?
कलकत्ते की कालकोठरी सुनी गई थी,
उसी कल्पना पर यथार्थ यह चुनी गई थी!

इन पिंजड़ों का एक जीव भी कभी पलावे,
तो नाहर-सा निकल गया वह माना जावे।
किन्तु किसी का अन्त करे कारा की पीड़ा,
तो मानो मर गया मार्ग का कोई कीड़ा।

सहसा मेरी जीभ जकड़ जड़-सी रह जाती,
सुध अब भी जब कभी प्रथम भोजन की आती।
रोटी जिसकी बनी, अनोखा एक मिसा था,
मिट्टी, कंकड़, घुन, अनाज सब साथ पिसा था!
होती थी घर कुटी गँड़ासे से ढोरों को,
वह भाजी बन मिली उबल कर हम चोरों को!
हाल देख फिर गया आप मेरा मन रोकर,
उलटा खाया पिया न निकले उलटी होकर!
कढ़ी-भात के साथ दाल रोटी वह घर की,
वह बघार की सौंध, कौंधती टिकुली-तरकी!
वह काँसे का थाल, फूल के भरे कटोरे,
आगे धरते हुए हाथ वे गोरे गोरे!
खीर-खाँड़ पर शुद्ध सद्द घृत धार बरसना,
'बस बस बस' पर कान न धर कुछ और परसना।
वह अबाध्यता और आप ही आप सरसना,
उन भोजन के लिए शेष रह गया तरसना।

बाहर देखे बाप और घर बहू निराली,
न थी काम के नाम सींक तक मैंने टाली।
पर कारा का कार्य मनुज को पशु करना है,
जुत कोल्हू में मुझे बैल बन कर मरना है।
कर करके श्रम हाय ! व्यर्थ मैंने तन तोड़ा,
बँधी तौल से किन्तु तेल निकला कुछ थोड़ा।
लाख गालियाँ मिलीं, हो गई पेशी फिर भी,
पैरों मे बेड़ियाँ पड़ीं, फूटा यह सिर भी।
बँटा बान ने मुझे, खेत ने गोड़ा धरकर,
मैं कोल्हू मे पिरा, पिसा चक्की मे चरमर।
सूख चला तन, किन्तु हुआ मन गीला गीला,
मैंने पड़ने दिया नहीं अपने को ढीला।
किये काम सब, पुरस्कार भी कभी न छोड़े,
हाथों मे थे कड़े और पैरों मे तोड़े!
पर लोहा ही रहा हाय ! लोहा अभिमानी,
पत्थर के थे, किन्तु न थे पारस के दानी!

मन पर वश चल सका कहो कब किस शासन का ?
मुझ पर पड़ा प्रभाव और प्रतिकूल दमन का।
डंडा-बेड़ी पड़ीं, कल्पना ने गति पाई,
कैसा कैसा कूटा-पिटा, दृढ़ता ही आई!
सोता सहचर वृन्द पास ही पड़ा हुआ था,
मेरे ऊँचे हाथ बँधे, मैं खड़ा हुआ था

मचा रहे थे वेग उदर में रुक कर घातें,
इसी दशा में बीत गईं कितनी ही रातें!
मुझको था अभ्यास गुनगुनाने का यों ही,
रहा वही अवलम्ब यहाँ आया मैं ज्यों ही।
कालकोठरी कटी उसीके बल से मेरी,
देती माथा फेर जहाँ की मौन अँधेरी!
देखा मैंने आप यहाँ नर पागल होता,
हम सबको ही नहीं, आप अपने को खोता!
कितने ही सह सके न जो दुर्गति की गाँसी,
मरे लगाकर यहाँ आपही अपनी फाँसी!

दिन के हारे थके रात को सब सोते थे,
पडी ब्यार भी शिथिल, स्यार वन में रोते थे।
तान उड़ाता गया घड़ी वाला बढ आगे,
ये चिल्लाते हुए प्राण अब किसके जागे?
आह! चीरती हुई अभागे की यह छाती,
वह पुकार की प्रखर धार थी धँसती आती।
यह तो माँ की टेर, रो उठा बालक-सा मन,
"सोने देती नहीं रॉड" बोला कोई जन।
मैंने पूछा—कौन अभागिन है यह भाई,
क्या—दो बच्चे छोड़ धरी चोरी में आई?
दिखलाई दे गये मुझे दो बच्चे भूखे,
सूखे जिनके अंग, केश थे जिनके रूखे!

माँ अभागिनी उन्हें आज किस भाँति जिलावे ?
चोरी से भी अन्न मिले तो क्यों न खिलावे ?
पर जिनके रक्षार्थ आप यह पाप कमाया,
न हो सदा के लिए उन्हें भी कहाँ गमाया !
उस पुकार का सार—“जगत मुझसे कुछ कह ले
किन्तु वता दे मुझे यही सोने के पहले—
ठौर ठिकाना लगा कहीं मेरे वच्चों का ?
दोषी मैं हूँ, दोष नहीं मेरे वच्चों का।”
सिहर उठा मैं, काँप गई एड़ी से चोटी,
लगी लूट-सी मुझे जेल की भी वह रोटी।
यदि मेरा नर आज कहीं नारायण होता,
देख न सकता कभी किसीको वह यों रोता।
चुप हो, चुप हो, न रो, न रो ऐसे ओ माई !
तेरे वच्चे हुए आज मेरे दो भाई !
गायें भैंसें तीन तीन हैं घर पर मेरे,
एक एक का दूध पियें हम तीनों तेरे !

पूछा मैंने दीन शिष्य वनकर वार्डर से-
रह सकते क्या नहीं यहाँ आर्डर से ?
“नहीं, एक नौ और दूसरा सात वरस का
वोला कुछ गम्भीर वना वह तनिक तरस खा-
“छः के ऊपर यहाँ नहीं रहने पाते हैं
होते हैं जो स्वजन उन्हें वे ले जाते हैं

करती वहुधा त्राण मिशन की गौरी मैया,
जहाँ ईश का पुत्र ईशु है प्राण बचैया!"
एक ओर से व्यथित गिरा वैरिक में आई—
"अरे ईशु अब कहाँ? व्यङ्ग्य क्यों उन पर भाई!
दैहिक वध ही किया ईशु का इतर जनों ने
उनका आत्मिक हनन किया स्वयमपि अपनों ने!
वे लड़के यदि फिरे कभी तो स्वयं फिरेंगे,
अभी देखकर तुम्हे गोद में नहीं गिरेंगे।"

[३]

वासी है जो एक गण्य संख्यक कारा के,
ये हैं बहुधा लक्ष्य एक सौ दस धारा के।
उनमें ऐसे सुने गये आधे के लगभग,
झूठे पकड़े गये, हुए फिर सच्चे जगमग!
और, यही है सभ्य शासकों की वह कारा,
कहता है ससुराल जिसे दोषी दल सारा!
शिक्षक - दम्पति मुख्य यहाँ के कोल्हू-चक्की,
तिकड़म की यह प्रमुख पाठशाला है पक्की।
होते हैं जन विवश यहाँ सब कुछ करने को,
चींटी पर भी एक मारने को, मरने को।
आवश्यकता यहाँ नवाविष्कार कराती!
एक बार धर बार बार यह धरा धराती!

पक्के होकर बहिर्भूत होते हैं कच्चे,
पा जाते हैं धूर्त्तराज पद सीधे - सच्चे।
होते हैं एकत्र यहाँ जन कहाँ कहाँ के,
यह जगती ही और, जीव ही और यहाँ के।
कारागृह के जीव गर्भगत परवश जैसे,
खेलेंगे ये खेल जन्म ले कैसे कैसे।
शिक्षा - दीक्षा कहाँ, कहाँ संस्कार किसीके,
ये अपराधी - अधम - अभागे पात्र इसीके।

सौ में नव्वे यहाँ दण्ड पाकर जो आये,
कहते हैं—निर्दोष द्वेष - वश गये फँसाये।
दस ऐसे भी शूर साहसी यहाँ धँसे हैं,
जो कैसे आ फँसे, प्रश्न सुन हँस हँसे हैं।
"चोरी की थी, जेल न आते, तुम्हीं कहो हो?'
चोरी? क्या निर्वाह कठिन था? "रहो रहो हो!
सुनो, सभी निर्वाह जगत मे कर लेते हैं.
अरे, उदर तो यहाँ श्वान भी भर लेते हैं
चोरी की जड़ चतुर कह गये हैं, झखमारी
लाई यहाँ कुटेव जुए की हमें हमारी।
सत्य भले हो वाप, पुलिस की मिथ्या माई,
राई पर्वत वने और पर्वत हो राई।"

कहा एक ने—"अजी चोरियाँ वही कराती,
दुष्टों से डर शिष्ट जनों को आप डराती।
कारतूस तो मुझे वही देती थी लाकर,
ले जाता था चौथ दरोगा मुझसे आकर।"

मैंने पूछा—पुत्र, हुए तुम डाकू कैसे?
पुलिस-कृपा से? "नहीं" बताया उसने—"ऐसे—
खाद डालकर खेत जोत सुख से मैं सोया,
किन्तु सुना उठ भोर अन्य ने उसको बोया!
मेरा जोता हुआ बो लिया उसने जैसे,
उसका बोया हुआ काट लेता मैं वैसे।
क्रम था यही, परन्तु दूसरा पक्ष प्रबल था,
मैं एकाकी और उधर नौ-दस का दल था।
इधर परिश्रम मात्र, उधर था मादक धन भी,
पर क्यों अत्यचार सहन करता यह मन भी।
क्या क्षत्रिय-तन नहीं किया मैंने भी धारण?
रण में दोनों ठीक, मरण हो चाहे मारण!

जाकर किया विरोध, किन्तु जो उत्तर पाया
उससे मुझको क्रोध और दुगना चढ़ आया।
तो फिर—मैंने कहा—खेत सचमुच है किसका,
चलो खेत पर, आज वहीं निर्णय हो इसका।

घर आया मैं और उठा ली भरी दुनाली,
फिर चल पड़ा तुरन्त, रही रोती घरवाली।
था महुए का पेड़ मेंड़ पर, उसके नीचे,
आ बैठा चुपचाप, साँस अन्तिम - सी खींचे।
आये वे भी 'घरो-बाँध लो' कहते कहते।
घर सकता था किन्तु कौन मुझको सुध रहते।
फिर भी क्या सुध मुझे रही थी तन की मन की?
हुई 'धाँय' कर मृत्यु एक प्रतिपक्षी जन की!
नहीं मारना, किन्तु चाहता था मैं बचना,
नर क्या जाने उस अदृष्ट ईश्वर की रचना।
फायर मैंने किये बचाकर अपने जाने,
फिर भी जाकर लगीं गोलियाँ ठीक ठिकाने!
मरे चार या पाँच, शेष उतने ही भागे,
मैं भी भागा, देख कभी पीछे फिर आगे।
ठौर कहाँ था और छोड़ अब वन बीहड़ को,
आया था मैं काट स्वयं जीवन की जड़ को।
मैं न बचूँ तो तुम्हीं कहो, फिर किसको छोड़ूँ?
दल में बल है, क्यों न भला फिर मैं दल जोड़ूँ?
लूट - मार की बहुत, उड़ाया - खाया मैंने,
पर भय का ही स्वाद भाइयो, पाया मैंने!

एक दरोगा मिला रहा पहले तो कुछ दिन,
मुझसे लेता रहा गिन्नियाँ - मुहरें गिन गिन।

एक बार कुछ हाथ न आया बहुत दिनों तक,
इस पर उसके साथ हो गई मेरी बक-झक।
घात लगाने लगे परस्पर अब हम दोनों,
बन बैठे बस एक दूसरे के यम दोनों!
एक बार दल न था जहाँ, उसने आ घेरा,
मैं बच निकला, खेत रहा साथी जन मेरा।
वह भी हमको एक बार मिल गया अकेला,
बोल दिया, बस एक साथ हम दस ने रेला।
खींच लिया तत्काल उसे उसके घोड़े से,
मार नचाया उसी अभागे के कोड़े से।
नाक छेदकर फिर नकेल-सी डोरी डाली,
और ऊँट-सा खींच ले गये देकर गाली!
'टुकड़े टुकड़े करो' राय बैठी यह दल की—
'इसे मछलियाँ चुगें आज अपनी चम्बल की!'
मुझे न फाँसी लगी, तुम्हें यह अचरज होगा,
मैंने उससे अधिक दुःख बरसों तक भोगा।
बहुत गई अब शेष रह गई है बस थोड़ी!"
उसने लम्बी सांस खींच धीरे से छोड़ी।

भाई तुम भी कहो तनिक तुम पर क्या बीती?
"अरे हाँ, भी क्यों न हो, हुई मेरी मनचीती।
जिन पापी ने छीन लिया मेरा घर छल से,
उस खल की मैं नाक काट आया निज बल से!"

"सच पूछो तो नाक कटी है मेरी सारी,
बच्ची ही थी पाँच बरस की वह बेचारी।
बतलाते हैं जब्र किया है उस पर मैंने,
दाग नहीं, ये दाँत लगे काले के पैने!"
राम राम! वात्सल्य दुग्ध से जी नहलावे,
उस पर अत्याचार करे, सो क्या कहलावे।
घोर घृणा से सभी साथियों ने मुँह फेरा,
रोम रोम तक काँप गया भीतर से मेरा।

आहा! यह संवाद-पत्र किसने पढ़ फेंका?
उड़ता जाता देख खेत में मैंने छेका।
लौटा जब मैं उसे लिये बचकर बकझक से,
कोई बन्दी बोल उठा फाँसी बैरक से-
"भाई हो, अखबार लिये जा रहे किधर यह?
हम फाँसी की राह देखते पड़े इधर यह
हमको भी कुछ हाल सुना दो जहाँ-तहाँ के
दो दिन के हम लोग और मेहमान यहाँ के
ठिठक गया, मैं उसे देख कर करुणा आई
अपनी गति से जगत चला जाता है भाई
यही उचित है तुम्हें, यहाँ की चिन्ता छोड़ें
जाना है अब जहाँ, वहीं से नाता जोड़ें

मेरा साथी बोल उठा सविषाद अचानक—
मुझको वह जल्लाद भूलता नहीं भयानक।
आया था जो इसी जेल में फाँसी देने,
और बँधे दस रुपये एक झटके के लेने।
फन्दे की भी जाँच हो चुकी थी सब पूरी,
फिर भी प्रातःकाल क्रिया रह गई अधूरी।
आया था संवाद रात होने तक कल ही—
"फाँसी रोको" अहा! प्रबल है विधि का बल ही।
बस अब तो जल्लाद किराया ही पावेगा,
रीता आया और लौट रीता जावेगा।
बन्दी पर वह आग हो गया—"अरे अभागे!
फाँसी से बच क्या न मरेगा तू अब आगे?
बतला, वे दस रुपये कौन देगा अब मुझको?
क्या नशा कर दिया वकीलों ने ही तुझको?
नहीं सैर के लिए लखनऊ से मैं आया,
बारी आई और गई मैंने क्या पाया?
दिला यहीं से फीस मुझे सीधे से मेरी,
और नहीं तो खुदा उलट दे माफी तेरी!"
क्या जाने क्यों मुझे एक चक्कर-सा आया,
साथी ने ही थाम ठिकाने पर पहुँचाया।

व्यथित देखकर मुझे एक वन्दी हँस बोला-
"तुम क्यों आये यहाँ लिये ऐसा मुहँ भोला
जो हो सो हो, मीत ! मगन रक्खो यह चोला
उड़े मिठाई आज, भङ्ग का लो यह गोला
मुझको अचरज हुआ, कहाँ से यह सब आया
"दिया एक का डेढ़ और माँगा सो पाया
यों तो मिलती नहीं कहीं फूटी भी हँडी
पर धन हो तो यहाँ नचा सकते हो रंडी
किन्तु यहाँ धन कहाँ, कौन लाता है कैसे
उसने हँसकर कहा—"दिखा दूँ ? देखो ऐसे-
ठोका उसने गला हुई ध्वनि दम दम करती
और उगल दीं आठ गिन्नियाँ चमचम करतीं
"लिखकर दो तुम पत्र किसीके नाम यहाँ से,
और मँगा दूँ तुम्हें सभी कुछ कहो जहाँ से।
पर लज्जा-वश पिता न जिससे मिलने आवे,
किस मुहँ से वह पुत्र उसे सन्देश पठावे ?

तदपि एक दिन अकस्मात आ गई मिलाई,
कहीं करुण तो कहीं अरुण आभा-सी छाई।
उत्सुकता के साथ लाज ही मुझमें आई,
आया था धनराज ममेरा मेरा भाई।
घुल मिल जुल खो जाय न बन्दी मिलने वाले,
अड़े रहे जमदूत बीच में डोरी डाले।
कहाँ दरस के साथ परस्पर परस न पालें,
यह क्या थोड़ा, देख दूर से हम बतियालें।
डाली मैंने एक दृष्टि आने वालों पर,
स्त्री-पुरुषों पर, करुण-तरुण, वृद्धों-बालों पर!
हा आये ये नये नये शव कहाँ कहाँ से?
ले जावेंगे कौन लोग हतभाग्य यहाँ से?
इस परवश के धनी जनों के यही स्वजन हैं?—
विपन्नवसन, हतअशन, दुखे मन, दुर्बल तन हैं!

हर परधन क्या घर न टका भी हमने छोड़ा—
जो खाने को बिसा सकें ये विष तो थोड़ा?

बच्चे भी थे साथ बहुत नंगे अधनंगे,
अरे, कहाँ से टूट पड़े इतने भिखमंगे?
फटे पुराने दीख पड़े पाजामे - लहँगे,
धब्बे ऐसे पड़े सिले टुकड़े भी महँगे!
पहले थे कुछ भड़कदार भी कपड़े लत्ते,
दल के तन पर निकल पड़े ज्यों लाल चकत्ते!
इस धरती पर हुई हाय ऐसी अनहोनी,
दुर्लभ इनके लिए आज दो कन, दो पौनी।
हमें मिलेगा यहाँ कौन रस इनसे मिलके?
चूस चूस फल फेंक दिये किसने ये छिलके?
वह कोई क्यों न हो कचहरी, कोठी, थाना,
मूल-ब्याज सब रहा इन्हें उससे भर पाना।

मिला सके आँखे न यहाँ दोनों दोनों से,
देखा हमने एक दूसरे को कोनों से।
"कैसे हो?" वह और—"ठीक हूँ", मैं यह कहकर
क्या जानें क्या लगे सोचने नीरव रहकर।
पूछ सका गृह-कुशल भी न मैं शंकित होकर,
मानो उसने बता दिया सब नीरव रोकर।

जागा मुझमें क्षोभ—घेर रक्खे यह घेरा,
बिना दोष का दण्ड दमन कर देखे मेरा!
जो भी सहना पड़े, दर्प, के साथ सहूँगा,
मैं आत्मा के निकट कभी संकुचित न हूँगा।
अपना अपना भाग्य भुवन मे सबने भोगा,
मेरा साक्षी किन्तु स्वयं परमात्मा होगा।
माथा नीचा हुआ पिता का मेरे कारण,
इस दुर्विध का नहीं दीखता आज निवारण।
फिर भी यदि निर्दोष उन्होंने मुझको माना,
तो फिर क्या रह गया मुझे भव मे भर पाना!
मरना है तो यहाँ मृत्यु भी भोग मरूँगा
मैंने ऐसा न तो किया कुछ न मैं करूँगा
जो उनके प्रिय पुत्र जनोचित न हो जगत मे
अथवा जो कर्त्तव्य न हो मेरे ही मत मे।

"मै उपाय कर रहा जमानत का" वह बोला—
"किन्तु अनिश्चित भाव आप फूफा का भोला,
जमींदार तैयार जमानत पर देने को,
किन्तु बावना ताल* इसी मिस हर लेने को।

* बावनाताल—बावन बीघे का खेत। बुँदेलखण्ड में बावना [का] एक महत्त्व रखता है। बहुधा लोग कहते हैं, क्या हम उनका [खा] जाते हैं, जो उनसे दबें। ऐसे बड़े खेत को लोग ताल कहते [हैं] जिसमें वर्षा का पानी भरा रखने के लिए चारों ओर ऊँची मिट्टी डालकर बाँध-सा बना लेते हैं।

उन्हें खेत का मोह नहीं है यदि तुम चाहो,
यही चाहिए उन्हें, सदा निज धर्म निवाहो।
पूर्व जन्म का पाप इसे वे मान रहे हैं,
और काटना उचित किसी विध जान रहे हैं।
कुछ ऐसा ही भिन्न रूप में भाव तुम्हारा,
देखूगा क्या अन्य यत्न हो मेरे द्वारा।
वह स्वय—" घनराज न आगे कुछ कह पाया,
"बहुत हुआ बस हटो" एक कोलाहल छाया।

मैंने मानों और कहीं वह दिवस बिताया,
सगिजनों ने मुझे बीसियों बार चिताया।
रूठ रात कर गई नींद भी मानों कुट्टी,
फिर भी जी को मिली घूमने की यों छुट्टी।

श्रम-सहिष्णु शुचि सदय पिता ज्यों शक्ति समेटे,
दीखे औंधे पड़े, मही माता को भेंटे!
सहलाता चतरा चमार उनको, वहलाता—
"कक्कू, संकट नहीं सज्जनों पर क्या आता?
दशरथ ऐसे भी न बचे विपदा के मारे,
बँधे रहे वसुदेव-देवकी धीरज धारे।
दोषी जाने जगत, राम निर्दोष प्रमानें,
वो दंडित जन आप इसे क्या थोड़ा जानें?

पर अब सब खुल गया, ताल लेने को छल से
जमींदार ने जाल रचा थाने के बल से।
सब कुछ होते हुए उसे सन्तोष नहीं है,
स्वार्थी जन के लिए कहीं कुछ दोष नहीं है।
तुम ज्ञानी हो, धरम-करम सब अपना पालो,
लो, अब हुक्का पियो, उठो कुछ मुँह में डालो।
रात बहुत हो गई, वह बैठी है भूखी,
तुम्हें देख यों देह और भी उसकी सूखी।"
"हाँ रे हाँ" वे उठे—"बहू, ला बेटी, पानी,
धोऊँ मैं मुँह हाथ, गऊ को दूँ फिर सानी।
ब्यालू देकर इसे लगा तब तक तू थाली।"
गो सेवा विधि पूज्य पिता ने पहले पाली।

निज पत्नी पर ध्यान बहुत मैंने न दिया था,
साधारण व्यवहार मात्र ही वहाँ किया था।
भूली उसके निकट रही सिट्टी-पिट्टी ही,
अंग लगी थी यहाँ अखाड़े की मिट्टी ही।
करने को क्या इसी उपेक्षा को भर पाई,
मेरे आगे आज यहाँ यह दुखिया आई।
सब कुछ कहती हुई, बिना मुँह से कुछ बोले,
दीखी मानो प्रथम यहीं वह घूँघट खोले!
फिर भी मुँह पर मलिन आवरण मैंने पाया,
उगा इधर से चन्द्र उधर से ग्रसता छाया!

ठिठुर ठंढ से निठुर हुआ-सा मानस मानी,
अथवा सूखा रक्त बहा आँखों से पानी।
खोते जाते देख रतन रह रह रोती से,
बरौनियों ने बेध लिये थे कुछ मोती-से।
नीची नीची प्रश्न दृष्टि, आँखें दूखी-सी,
पलक सूजी हुई और अलकें रूखी-सी!
कोने की-सी दीप शिखा आँगन में जलती,
बुझती बुझती किसी भाँति कुछ काँप सँभलती।
देखा मैंने आज, यही कुललक्ष्मी मेरी,
दीखी उसके साथ साथ ही मुझे अँधेरी।

"कहीं यहाँ से निकल चलो" कह कातर वाणी
मेरे आगे गिरी लता-सी वह कल्याणी—
"इस थाने में कठिन हमें खाना-पीना भी,
हाकिम सहता नहीं हमारा अब जीना भी।
मेरे माता-पिता, बहिन-भाई सब छूटे,
जन्म जन्म के फूल इसी पद रज में फूटे।
इन बालों से, चलो, तुम्हारी गैल बुहारूँ,
राजा ही अन्याय करे तो कहाँ गुहारूँ?"

गिरती अपनी ध्यानमूर्ति वह मैंने साधी—
मैं औरों का नहीं एक तेरा अपराधी।

अवश आज हूँ, मुझे क्षमा कर मेरी देवी,
समझ आज से मुझे सदा अपना पद-सेवी।
जीवन के संघर्ष निरन्तर चला करेंगे,
पर तेरे भगवान अन्त में भला करेंगे।
देख पिता की ओर, दबा रख अपनी पीड़ा,
यह कारा नव मल्ल-युद्ध की मेरी क्रीड़ा।
मेरे कारण झुके तुम्हारे हैं जितने सिर,
दुगने ऊँचे उठा न दूँ तो नाम नहीं फिर।
तब जीवन का गान, बजे जब मारू बाजा,
मेरा शासक कौन? आप मैं अपना राजा!

भूल पिता के लाड़-प्यार में कर्त्री बनकर,
जो मुझसे भी बात किया करती थी तनकर,
दीन दुःखिनी और भयाकुल वह जो दीखी,
मेरे उर में धँसी एक बरछी-सी तीखी।

आते मुझको याद अखाड़े के वे साथी,
जिनका कुछ न बिगाड़ सके बिगड़ा भी हाथी।
क्या उनको भी कठिन आज मेरी गृह-रक्षा?
उलट गई हो कहीं न उनकी भी ग्रह-कक्षा!
पाँसे मैंने दीत देख बाधा बन्धन की,
मन की न हो, परन्तु शक्ति सीमित है तन की।

यह कारा-प्राचीर लाँघ कर जाने पाऊँ,
तो साहस है मुझे, एक साका कर आऊँ!
कोई हो वा न हो, रहे बस राम हमारा,
रक्षित उसके हाथ उचित परिणाम हमारा।

कैसे कहूँ विचार रात भर क्या क्या आये?
दर्शन प्रातःकाल एक सज्जन के पाये।
अपराधी हैं आप, इसे मैं कैसे मानूँ,
पर आये किस हेतु, यहाँ यह क्योंकर जानूँ?
मैंने जो यों प्रश्न किया उनसे नत होकर,
कहा उन्होंने तनिक क्षोभ से उद्धत होकर—
"बन्दी मैं, सशयी हुए शासक मेरे प्रति,
पर मैं हूँ विश्वस्त देखकर उनकी मति गति।
सो बैठे वे अवधि आप निज न्याय-महत्ता,
यहाँ पुलिस का राज्य और सेना की सत्ता।
ऐसी सत्ता किन्तु कहाँ तक चल सकती है?
भीति मात्र से प्रजा-प्रीति क्या पल सकती है?
सह सकता है कौन पराया शासन मन से—
जिसे काम है मात्र हमारे तन से धन से।
बन बैठे वे यहाँ स्वयं संरक्षक कैसे,
लड़ते थे हम लोग परस्पर बच्चों जैसे।
गये डेढ़ सौ वर्ष, मिले अच्छे प्रतिपालक,
हम वयस्क भी नहीं, बने बालक के बालक!

रहा न उलटा आज यहाँ इतना भी विक्रम,
छोड़ जायँ वे और खड़े रह सकें सहज हम।
जो अभियोगी, वही हमारा न्यायी भी है,
कुछ कह सकता नहीं भीति-वश भाई भी है।
निर्णायक, निज दण्ड-दर्प पर फूल न जा तू,
तेरा भी है एक विचारक, भूल न जा तू!
क्षमा-प्रार्थना करूँ, बता कैसे मैं तुमसे?
सच्चे जी से खेद प्रकट कर तू ही मुझसे।
यह तन बन्दी रहे किन्तु उच्छृङ्खल-सा मन,
नहीं मानता कहीं किसी बाधा का बन्धन।
उसकी गति सर्वत्र सहज जल-थल-अम्बर में,
घेर सकेगा कौन उसे घूरे-से घर में?'
पागल कैसे कहूँ, पते की कहते थे वे,
फिर भी कुछ आविष्ट सरीखे रहते थे वे।
सेवक मुझको यहाँ समझिए, कह अकपट से
हाथ जोड़ मैं उन्हें, बढ़ गया आगे झट से।

[५]

उस दिन दादा श्यामसिंह के ज्वर का जाड़ा।
मैंने कम्बल दिया, उन्हें कुछ मीड़ा-माड़ा।
श्रद्धा क्यों थी मुझे, न जाने उनपर मन में,
मुक्त जीव यह कौन आ फँसा इस वन्धन में।
उलटे मच्छर मरे हमारे शोणित-विष से,
दादा, हम में आप यहाँ आये किस मिप से?
"मातृघात-मिप!" मुहँ न दिखाई दिया तिमिर मे,
किन्तु न हुआ शब्द नेश वर्षा की झिर में।
मातृघात-मिप? कभी नहीं, कह काँप उठा मैं,
पैर दबाना छोड़ उभय कर चाँप उठा मैं!
"हाँ हाँ मुझको न छू भले तू मेरे भोले!"
मैं फिर फिर भी 'नहीं नहीं' वे 'हाँ हाँ' बोले!

क्या कुछ—आगे कह न सका मैं "चुप, चुप!" सुनकर—
"माँ थी वृद्धा तपस्विनी" बोले सिर धुनकर—
"तू समझेगा नहीं, तदपि अब कहना होगा,
वृथा अन्यथा तुझे दुःख से दहना होगा।"
फेरा मैंने हाथ पसीना छूट रहा था,
उठ बैठे वे, देह भले ही टूट रहा था।
आज नहीं कल, किन्तु उन्होंने सुना न माना,
वह था मेरा स्वप्न और उनका वरीना!

"विधवा माँ ने मुझे, कहूँ क्या, कैसे पाला?
सहा न उसने आप कौन-सा क्लेश-कसाला?
घर से भर कर व्याज, मूल में गहने देकर,
छोड़ा उसने गाँव, फूल ही पति के लेकर!
मैं तो उसका एक अंग ही था छाती का,
मरण-विघ्न था उसे इसी अपने घाती का।
यदि मैं होता नहीं, दुःख सहती क्यों दुःसह,
लिये पिता के फूल समाती गङ्गा में वह।
कुल बाधक था भीख माँगने में बाहर भी,
महरी ही का काम दे सका उसे नगर भी!
मैंने पहली छात्र-वृत्ति जिस दिन पाई थी,
उसे उसी दिन साँस एक सुख की आई थी।

अजित

मैं विद्या के अभी द्वार में ही पैठा था,
देखा, मेरे स्वागतार्थ विप्लव बैठा था!
परतन्त्रों का पन्थ एक विद्रोह कहीं भी,
उसमें जो हो, नहीं किसीका मोह कहीं भी।
हाँ रे हाँ, विद्रोह, उसी परवत्ता के प्रति,
जिसके कारण हुई आज अपनी यह दुर्गति।
पशुओं-सा जो यहाँ हमें हाँका करती है,
सात समुन्दर पार लूट कर घर भरती है!
राजतन्त्र में पड़े कभी जीवन के लाले,
पड़े न कोई प्रजातन्त्र वालों के पाले।
हो सकता है एक कहाँ तक कोई त्रासक?
ब्रिटिश मात्र वे कोटि कोटि हैं अपने शासक।
कुली-कबाड़ी ऊत-धूत जो भी आते हैं,
सब हुजूर ही यहाँ हमारे हो जाते हैं!
उनका ही धन-धाम, धूलि तक कहाँ हमारी?
हाय! जाति की जाति नष्ट-सी यहाँ हमारी।
बन कोल्हू का बैल, नित्य दिन भर मर जी कर,
गिर रहता है कहीं रात में कुछ खा पीकर।—
सारा देश दरिद्र हुआ जीता मरता है,
मनुज पेट के लिए यहाँ सब कुछ करता है।
हम क्या थे, हा! हमे इन्होंने क्या कर डाला?
किसकी ज्वाला जला हमें कर बैठी काला?
हुए निस्व ही नहीं, भीरु कायर भी भारी,
अपनों पर ही आज अवश हम अत्याचारी!

वानर ही ये वीर रहे, जब हम नरवर थे,
महावीर हम और बुद्ध, पर ये बर्बर थे।
लेकर उलटा लाभ हमारी सम ममता का,
परिचय देने चले सभी अपनी क्षमता का।
शतियों सहे प्रहार, अन्त में हम जो हारे,
रहा हाय ! यह अधःपतन ही हाथ हमारे।
बहुतों ने षड्यन्त्र यहाँ बहु बार रचा था,
पर यह बन्दर बाँट इन्हींके लिए बचा था !

गिनें हमारे दोष विदेशी शासक भूरे,
पर हैं उनके हेतु वस्तुतः वे ही पूरे।
उनके गुन, निज दोष कहाँ तक गिनूँ-गुनूँ मैं,
किसने ऐसा हीन हमे कर दिया, सुनूँ मैं ?
पुलिस - मिलिटरी नहीं हमारी, उनकी रक्षक,
इसी हेतु हम आज आप ही अपने भक्षक !
रेल, तार, जल, ज्योति, प्रेस, पथ साथ उन्हींके;
जीना - मरना यहाँ हमारा हाथ उन्हींके !
कचहरियाँ घर घाल रही हैं बनकर घूँसे,
मुझे महाजन जमींदार क्यों तुझे न मूँसें।
तुझे अरे हाँ तुझे, बड़ा जोता जो है तू,
जमींदार का हृदय गोड़ बोता जो है तू !
ऐसा ही कुछ भेद न हो तो मुझसे कहना,
यह तो है आरम्भ, अभी से सँभले रहना।"

दादा तुमको मिला कहाँ से भेद यहाँ यह ?
हँस बोले वे—"घटित नित्य ही नहीं कहाँ यह ?
चोरी हो तो सहज भले ही भेद न फूटे,
खुली छूट है यहाँ, हमें चाहे जो लूटे।

जो हो, मैं सम्मिलित हो गया क्रान्ति-समिति में,
मुक्ति हमारी किसी अन्य शासन की इति में।
दस्यु विदेशी कहें हठी चाहे हत्यारा,
हमको अपना देश-धर्म प्राणों से प्यारा।
छिपे छिपे भी तुच्छ मानकर अपने यम को,
जो कुछ हमने किया, गर्व है उसपर हमको।

इसी बीच माँ इधर रुग्ण हो गिरी सदा को,
उधर कहूँ क्या, अकथनीय अपनी विपदा को।
मैं था पीछे पड़ा एक देश-द्रोही के,
निर्मम कैसे न हों भाग्य भी निर्मोही के।
देख-रेख की भिन्न भिन्न दो दूर दिशाएँ,
दिखा न पाईं मुझे एक पथ तीन निशाएँ।
मरने को इस ओर पड़ी थी आरत माता,
और दीन उस ओर खड़ी थी भारत माता।
सर्व-ग्रासी काल एक को धर पकड़े है,
विदेशियों का जाल दूसरी को जकड़े है।

दोनों मुझे पुकार रही हैं कातर होकर,
मैं विमूढ़-सा खड़ा बीच में सुध-बुध खोकर।
छोटा-सा हूँ, क्यों न सँभालूँ मैं छोटी को?
छोड़ेगी क्या मृत्यु किन्तु इसकी चोटी को?
उसकी सेवा कठिन, तथापि न निष्फल होगी,
आज साधना सिद्ध न होगी तो कल होगी।
इसका मैं ही एक, करोड़ों सन्तति उसकी,
अवलम्बित क्या एक मुझीपर है गति उसकी?
पर कितने हैं आज करोड़ों में भी ऐसे,
जाने उसकी व्यथा वेदना जो तुझ जैसे?
यह जननी तो एक मात्र तेरी तनु-दात्री,
पर वह तो है कोटि कोटि की धरिणी-धात्री।
उसकी महिमा समझ यही जननी जो पाती,
तो क्या तेरी भेट स्वयं उसको न चढ़ाती?
इसका रोग असाध्य, मरण ही अब मंगल है,
वह क्यों लाखों मरे, जहाँ तक तुममें बल है।
रक्षणार्थ भी देख, आदि में शस्त्र न छोड़े,
दुःशासन ने हाय! अन्त में वस्त्र न छोड़े!
चौथे दिन मैं सोच एक मारक विष लाया,
औषधि-मिष वह आप घोलकर उसे पिलाया।
एक मित्र से—तनिक सवेरे घर हो आना,—
कहकर मैंने मार्ग लिया अपना मनमाना!

जाने दूँ वह वात कि किसने किसको मारा,
उसे जला भी सका नहीं मैं, जिसको मारा!
क्रिया-कर्म सव किया मित्र ने उसका विधि से,
वह वञ्चित ही रही अन्त में इस निज निधि से।
सुन करुणा से क्रूर भाव का मेल मिलाकर,
वापू ने गो-कष्ट हरा विष योग दिलाकर,
आश्वासन की एक साँस-सी मैंने खींची,
दीखी माँ की क्षमा-मूर्ति जो आँखें मींची।
मरती है प्रत्येक प्रसू अपनी सन्तति पर,
किन्तु क्या कहूँ मैं स्वनियति की निर्मम गति पर।
वह जननी तो मुक्त हुई, पर हाय विधाता!
रही वॅधी की वॅधी गऊ-सी भारतमाता।
भूल न अपना शक्ति-रूप ओ भोली भाली!
तू ही तो है सिंहवाहिनी भीमा काली।
वरदे, अपना अभय-भाव हम सवमें भर दे,
मैं क्या माँगूँ, मुझे आत्म-वलि का अवसर दे।"

दादा ने सिर टेक दिया मेरे कन्धे पर,
गन्धक के द्रव-विन्दु अश्रु वन वरसे झर झर।
हत, विस्मित, जड़, मौन रहा, कुछ कह न सका मैं,
यह थी ऐसी व्यथा, विलग भी सह न सका मैं!
इसीलिए क्या यहाँ उपस्थिति तात! तुम्हारी?
"लूटा हमने एक खजाना था सरकारी।

गया नरक में क्यों न यहाँ आने से यह मैं,
फिर भी जो था इष्ट, पा गया सहसा वह मैं।
पूछा मैंने—यहाँ ? यहाँ क्या तुमने पाया?
"तुझे" उन्होंने पकड़ हृदय से मुझे लगाया।
मैं एकाकी नहीं, मर गई यद्यपि माता।
"मातृभूमि तो बनी, बने तू उसका त्राता।
तात, तनिक तू निरख उसे मेरे नेत्रों से,
वह कितनी परिपूर्ण विविध पुण्य-क्षेत्रों से।
अधिक नहीं तो निज अतीत-सा उन्नत इसका,
देख हिमाचल, जलद-पटल है कटि-पट जिसका!
अपने वसुधा-व्योम, नदी-नद, गिरि-वन जैसे,
भिन्न भिन्न आदर्श चरित भी अनुपम वैसे।
उनसे गिरकर बचे रहे अब तक हम कैसे?
किस पर किये प्रहार लुटेरों ने भी ऐसे?"

[६]

दादा में था एक अलौकिक - सा आकर्षण,
कभी वीर फिर रौद्र कभी करुणारस - वर्षण।
दिव्य देश का रूप उन्होंने मुझे दिखाया,
कह कह कर इतिहास बना सो ज्ञान सिखाया।
अँगरेजों पर उन्हें एक चिढ़-सी थी मन में,
अपने अर्थ अधीर त्याग ही था जीवन में।
तन उनका था बना सार - सामग्री द्वारा,
अब पिघला, अब गला तीक्ष्ण तापों का मारा।

दादा, क्या गुण नहीं, दोष ही अँगरेजों में?
भेद - बुद्धि ही एक भरी इनके भेजों में?

वे हँस बोले—"देख यहीं यह कलह खड़ा है,
दोषों ही से अभी हमें तो काम पड़ा है।"
रटे हुए गुण याद ब्रिटिश लोगों के आये,
शिक्षित शुक-सम अकस्मात मैंने दुहराये।
रेल तार-से यन्त्र इन्हीने यहाँ चलाये,
यहाँ शान्ति सुख और धर्म-निर्भयता लाये।
"नहीं नहीं, सब कहीं इन्हींने यन्त्र चलाये,
पाये जिसने, एक इन्हीसे तो वे पाये!
बनने देते स्वयं हमे भी यन्त्रोद्योगी
तो कैसे लूटते हमे ये पर धन भोगी।
साधन सब थे किन्तु स्वार्थ अपना ही साधा,
पद पद पर दी यहाँ इन्होंने हमको बाधा।
शान्ति, वस्तुतः मरण-शान्ति दी हमे इन्हींने,
निबल निस्व की क्षान्ति दान्ति दी हमें इन्हीने!
मिली इन्हींसे हमे धर्म-निर्भयता आहा!
झगड़े हिन्दू-मुसलमान कर सब कुछ स्वाहा।
करते क्या ये नहीं न्याय-निर्णय दोनों का?
डरते क्या ये नहीं धर्म का भय दोनों का?
बना एक व्यवसाय स्वयं न्यायासन इनका।
व्यथित अहा! असंख्य करों पर शासन इनका
यही हमारा अहोभाग्य है इस शासन में
लेते हैं हम साँस बिना कर दिये पवन में
आपस मे लड़ मरें न हम, ये यहो इन्होंने
तोल देख तू तनिक त्याग यह कहीं किसीसे

लेकर क्या कुछ कभी त्याग का मूल्य घटाते,
बस ये विग्रह-मूल द्रव्य ही दूर हटाते!
दिया मतस्वातन्त्र्य इन्होंने तुझे अतुलतर,
कर खंडन सौ बार क्रिश्चियन मत का खुलकर।
पर धन इनका प्रकृत धर्म, सो रहे ठिकाने,
उसमें बाधा पड़ी कभी तो फिर तू जाने!
इनके वे मिशनरी आप ईसा के बच्चे,
उतरे मानो अभी स्वर्ग से सीधे सच्चे!
काट काट कर अलग हमें करते हैं हमसे,
हम उनके सम मान रहे अपने को भ्रम से।
अमरीकी बन सका कौन हबशी ईसाई?
स्वर्ग राज्य की भेट नरक की "लिंचिंग्" लाई!
क्या गोवा की ज्ञात तुझे वह क्रूर कहानी,
मरे आप औरङ्गजेब की भी सुन नानी।
आज नहीं वह समय, किन्तु दुष्काल बने हैं,
और अन्न पर लुटें, यहाँ वे लाल बने हैं।
घर से जिसको दिया इन्होंने देश निकाला,
उसी धर्म को यहाँ अवश हो हमने पाला।
विद्यालय भी यहाँ इन्होंने आकर खोले,
शिक्षा इनके भृत्य कृत्य की चाहे जो ले।
विद्यालय ही नहीं, चिकित्सालय भी इनके,
सो फिरंग-से रोग संग ही आये जिनके!
ओषधियाँ हैं यहाँ कहाँ, वे भी लन्दन की,
पैसों में ये लूट लुटाते हैं नन्दन की!

कितनी कितनी नई वस्तुओं की यह बस्ती,
कह तू टँट टटोल हाट मँहगी या सस्ती!
एक वृद्ध का कथन—'विदा किस दिन ये लेंगे,
जिस दिन सौ मन स्वर्ण एक पैसे में देंगे।
किन्तु एक पैसा न गाँठ में हम पावेंगे,
ललचाकर ही उसे देखते रह जावेंगे!
मेरा मत—यह भूमि न छोड़ेंगे ये तब भी,
निकलेंगे बस तभी, निकाल सकें हम जब भी।
फूट कपट के धनी, दम्भ के मानी हैं ये
कृपण कहूँ क्यों, उपाधियों के दानी हैं ये
करते हैं जो उसे कहाँ कहने देते हैं
रो-धो कर भी नहीं हमें सहने देते हैं
कण्ठ रोध कर विषम घात करते हैं यम-से
नहीं छोड़ते हमें, घृणा करके भी हमसे

उनकी कोठी उधर, इधर अपनी यह कारा
झोंक नरक में हमें लूटते स्वर्ग हमारा
यही सिखाया हमें इन्होंने, हीन रहे हम
ईसा के भी पूर्व कहाँ स्वाधीन रहे हम
दलित किया घर ही न इन्होंने हमको थोड़ा,
बाहर भी बस कुली बनाकर परवश छोड़ा।
इतना पद भी चिह्न हमारे प्रक्षालन का,
दण्ड छोड़ वा पुरस्कार यह घर घालन का।

विजयी हैं ये मित्र साथियों के ही बल से,
कर ले कोई होड़ कहीं भी इनके छल से।
ग्रेट न ठहरे, करे कहाँ तक निलय-निरीक्षण,
यदि उसमें हो एक आध एण्ड्रयूज विभीषण।
बन सकते हैं धर्म-भीरु क्या कायर-से ये,
ओडायर-से धीर, वीर हैं डायर-से ये!
रहते आये अरे, श्वेत भल्लूक असम्बल,
धरे गये हम इन्हें जानकर कोरा कम्बल!
नहीं मान-धन मात्र आज ये मूस रहे हैं,
तोड़ताड़ कर हमें हाड़ तक चूस रहे हैं!"

सहम गया मैं, किन्तु न मैंने साहस छोड़ा,
दादा! यह तो भाग्य हमींने अपना फोड़ा।
अमीचन्द तो न था यहाँ कुछ नंगा-भूखा?
हुआ और भी अधिक भाव अब उनका रूखा।
"वह नवाब पर असन्तुष्ट वा रुष्ट हुआ था,
किन्तु क्लीब—वह जन्मजात ही दुष्ट हुआ था।
यों डाकू भी नहीं अल्प साहस दिखलाते,
जो प्राणों पर खेल लूटने को हैं जाते।
देखें ये निज कर्म स्वयं पर धन के प्यासे,
अपनों ने ही इन्हें निकाला अमरीका से।
मूर्त्तिमान ये श्वेत कुष्ट से हममें फूटे,
मरना भी है भला, पिंड यदि इनसे छूटे।

हम काले तो नहीं स्वयं भी क्यों ये कोढ़ी ?
चादर जिनको देख अलज्जा ने भी ओढ़ी।
इन भंडों का भार नरक से भी न झिलेगा,
प्रभु ही जाने, इन्हें कौन-सा ठौर मिलेगा।"

दादा तब भी तुम्हीं भरोगे इनका पानी,
'गोरे तृप्यन्ताम' कहेगी काली वाणी !
यह सुनकर हँस पड़े क्रुद्ध मेरे कापालिक,
"वैर मरण तक किन्तु प्रेम अपना चिरकालिक।
वानर की ही हुई पूर्ण परिणति है इनमें,
पर-गृह लूटे टूट, यही मति-गति है इनमे।
होते रहे प्रहार और यदि इनके ऐसे,
इस वसुधा के वत्स बचेंगे तो फिर कैसे ?
खेलों के भी नियम उलट दें यदि ये हारें,
एक बात तब कहें, दूसरा अर्थ विचारें।
अपने में ये जिसे श्रेष्ठ मानव-गुण मानें,
ऐसे हैं, अन्यत्र उसे विद्रोह बखानें।
लिये हमारे लिए कलम में भी भाले ये,
तन के उजले हाय ! कुटिल मन के काले ये।
देते हैं अहिफेन सरीखा विष ही बर्बर,
चीनों की-सी महाजाति भी जिससे जर्जर !

कुत्ता भी आखेट-अंग क्या होगा ऐसा,
इनके शासन-सग दुरन्त दरोगा जैसा!
हिन्दूगण का मलेच्छ, मुसलमानों का काफिर,
मिल डेविल से बना दरोगा, क्या कहना फिर!
होता अपना राज्य, बता तो तू ही मुझको,
मिथ्या दोषी कौन बना सकता यों तुझको?
पण्डित तो हैं किन्तु विषमदर्शी ये पण्डित,
सभ्य मनुज हो, किन्तु मनुजता इनसे खण्डित।
बातें छोड़ सहानुभूति इनमें कुछ होती,
तो क्यों इतनी प्रजा नाम पर इनके रोती?
कहते हैं, यह किया और वह किया यहाँ है,
पर ये कहते नहीं स्वयं जो लिया यहाँ है।
फूट डालकर किया इन्होंने शासन हम पर,
लुट इनसे हम आज स्वय पिट रहे परस्पर!
दिये इन्होंने नित्य नये आपस के झगड़े,
जो हैं हमको हिंस्र जन्तुओं-सा धर धगड़े।
इनकी देन विलोक विश्व अपने को वारे,
प्रकट किया यों झूठ, निरख सच भी झखमारे!
तू इनका जो पाठ मिडिल पर्यन्त पढ़ा है,
झूठा है वह, आप इन्होंने उसे गढ़ा है।
इनका सच्चा चित्र, हमींसे अङ्कित होगा,
पीछे भी अवलोक लोक आतङ्कित होगा।

उल्टा सीधा गाँठ साथ ले निकल पड़े थे,
मिला बड़ा आखेट और वन गये बड़े थे।
घुसे प्रथम बन विनत वणिक परधनचेता थे,
भेद - बुद्धि से हुए अन्त में जनजेता थे।
मिटे यहाँ गृह-शिल्प, शिल्पियों पर ये रूठे,
तब माने जब क्रूर काट ले गये अँगूठे!
धन - धरती ही नहीं, हुए जन आप पराये,
मन से भी हम गये दैन्य के हाथ हराये।
सोती जगती जगी अमृत-वाणी सुन जिनकी,
उनके गुण चर गई वश्यता - पशुता इनकी!
दिये हुए निज वचन इन्होंने ऐसे पाले,
रौलट ऐसे एक्ट निरन्तर यहाँ निकाले।
जुड़ा न नौ मन तेल न इनकी राधा नाची,
अविरत आधिव्याधि लिये भय-बाधा नाची।
सौ में नब्बे मरे निरक्षर सैन्य बजट में,
छपा किये नित नये नये प्रतिबन्ध गजट में।

इधर ठंड से ठिठुर, भूख से मानो भुनते,
तड़प तड़प सब ओर प्रजा-जन थे सिर धुनते,
उधर निरन्तर बाल डान्स चलते थे इनके,
मह मह करते मद्य - मांस चलते थे इनके।
यदि विरोध के लिये गये व्याकुल संचित जन,
किया इन्होंने निपट नग्न हिंसा का नर्तन।

रहे अहिंसक और अनायुध विद्रोही दल,
न्यायोचित था जिन्हें सहज स्वत्वों का ही बल।
लाल लाल विकराल वदन वानर से बढ़कर,
कूद पड़े ये, दोष उन्हींके मत्थे मढ़कर।
निष्क्रिय बैठी हुई भीड़ पर छूटे घोड़े,
स्त्री-पुरुषों पर पड़े उन्हीं पशुओं के कोड़े।
टूटे बहुधा निपट निहत्थों के सिर डंडे,
किये गये सन्तप्त गोलियों से ही ठंडे!
यम से भी था अधिक पुलिस-भय सोच जनों को,
था यदि तो अवलम्ब एक उत्कोच जनों को!
करके पार असख्य शैल, सरिताएँ, सागर,
बढ़े वन्य युग से न एक पग भी ये नागर!!!"

दादा अति कर गया हाय! आरोप तुम्हारा,
नहीं व्यष्टि पर, यह समष्टि पर कोप तुम्हारा।
"कहता हूँ मैं श्रेष्ठ जनों की ही ये बातें,
समझेगा तू आप अन्त मे इनकी घातें।"
फिर भी मेरा हृदय यही मुझसे कहता है,
बड़े दोष के साथ बड़ा गुण भी रहता है।
तात तर्क को सिद्धि बुद्धि-साधन के द्वारा,
किन्तु अन्त में प्राप्त सत्य भी मन के द्वारा।
"साधु साधु! क्या शुद्ध हृदय तूने पाया है,
किन्तु गुणों का योग कहाँ अब भी आया है?

सौंप हमारा हमे दोष जब ये छोड़ेंगे,
दीखेंगे गुण-रत्न तभी, जो हम जोड़ेंगे।
मुझे आज तो दमन-दण्ड ही इनका भाता,
जो हममें प्रतिकार भाव है स्वयं जगाता।"

[७]

वह बन्दी, गिन्नियाँ गले में जो रखता था,
नित्य नये रस यहाँ वित्त-बल से चखता था।
रहने लगा उदास इधर सहसा क्यों मन में;
"तू है इसका हेतु" कहा उसने निर्जन मे।
उसने अपनी व्यथा कथा कुछ मुझे सुनाई—
"मैं हूँ बुरा परन्तु भले घर का हूँ भाई।
कहा बाप ने—'निकल।' और मैं निकला घर से,
घर से ही क्यों, गया संगिसह दूर नगर से।
खोजा हो वा नहीं, किसीने मुझे न पाया,
कलावन्त तो नहीं, भाग्य ने चोर बनाया।
साथी जन ने पाप रोग मे प्राण गँवाये,
उस गुरु के गुण नहीं, दोष ही मुझमें आये।

भोगा तन का भोग, योग मिल सका न मन का,
धन का ही बल जिसे, कर्म खोटा उस जन का।
चोर चोर है, किन्तु शाह निकले न लुटेरा,
हाय ! एक ने यहाँ दूसरे का घर घेरा।

स्त्री-पुरुषों के साथ खेल कितने मैं खेला,
पाता रहा परन्तु आपको सदा अकेला।
तुझे देख क्या कहूँ, मोहमय ममता जागी,
हुआ पिता का पुत्र क्यों न तुझ-सा बड़भागी।
परम्परा भी यहाँ कहाँ रह पाती सम है,
उत्तम कुल में प्रकट अचानक महा अधम है।
सत्य न हो वैषम्य, सहज वह निस्संशय है,
आशा अच्छी आप, किन्तु उससें भी भय है।
देख रहा मैं आज अनुज का तुझमें सपना,
विद्यालय को पिता दे गये सब कुछ अपना।
दीख रहा अब निकट मुझे भी अपना मरना,
तेरा है, जो गड़ा रहा—नाहीं मत करना।
हर कर भी हर सका न मैं, वह धन है ऐसा,
बचा आग-सा गाड़ उसे जैसा का तैसा।
और कौन, जो उसे छू सके तुझे छोड़कर,
तू ही उसको भोग करे या धरे जोड़कर।"
रहो रहो—मत कहो, किन्तु मैं रोक न पाया,
उसने मुझको गड़े द्रव्य का पता बताया।

"आधा मेरा रहा!" पास का झुरमुट डोला,
तत्क्षण उससे निकल एक वन्दी हँस बोला—
"मैं भी तो हूँ यहाँ एक मौसेरा भाई!"
सिहर उठा मैं किन्तु धनी ने भौंह चढ़ाई।
दाँत पीस कर सँभल गया वह फिर मुसकाया—
"भय क्या, मैंने और एक भाई जो पाया।
देव-दनुज मिल जायँ कहीं तो फिर क्या झगड़ा,
रक्षित तेरा अंश अलग इससे भी तगड़ा।
आ, उससे भी एक साथ छुट्टी पा जाऊँ,
यह तो पीता नहीं, बैठ, तुझसे बतियाऊँ।"

मैं हट आया, किन्तु न लौटे उभय अभागे,
मधु मे माहुर घूँट गये जगती के आगे!
"गया हमारा धनी!" बहुत से वन्दी रोये,
कह मैंने भी—हाय दीन! अपने दृग धोये।

[८]

किसी भविष्य का द्वार खोलता यह दिन आया !
समय - पूर्व निष्कृति - निदेश मैंने क्यों पाया ?
जैसा भी है, दण्ड अधूरा छूट रहा क्यों ?
मैं जो क्रम सह गया, बीच में टूट रहा क्यों ?

जिसने झूठी साख भराकर दण्ड दिलाया,
वही जमानतदार बना, जगती की माया !
मिला बावना ताल, लिया उसने निज मन भर,
नगद उसीके साथ जमानत का भी धन धर।

खलता है निज नरक छूटना भी हा ! नर को,
छोड़ चला मैं एक कुटुम्बी-सा इस घर को !
क्या क्या देखा सुना यहाँ इस अल्प समय में,
पर क्या दर्शक मात्र रहा मैं इस अभिनय में ?
मेरा हित ही हुआ पुलिस के किये अहित में,
अमित लाभ-सा मिला अचानक मुझको मित मे ।
तन तो कुछ गिर गया, किन्तु मन उठा यहाँ पर,
मैं वाहर आ गया, मिला घनराज वहाँ पर ।
कुशल - प्रश्न भी कठिन, हाय उसमें भी भय है,
वह बोला—"झट चलो रेल का अभी समय है ।
फूफा मरणासन्न !" बढ़ा वह आगे आगे,
मैं पीछे था, गये उभय हम भागे भागे ।

फाँसी घर-सा आज मुक्त बन्दी का घर था,
कण्ठ रुँधा था हाय ! हृदय पर भी पत्थर था ।
ज्वालाओं से घिरी घूमती - सी जगती थी,
अपनी स्थिति ही अवश अचल मुझको लगती थी ।
पिता गये, घर नहीं आज पत्नी भी मेरी,
मरी कि जीती कहाँ, यहाँ सब ओर अँधेरी !
सान्ध्य दीप ले गई न जाने किस मन्दिर में,
तन से लौटी नहीं आज तक शून्य अजिर में ।
उसी रात को रुग्ण पिता ने काया त्यागी,
यह जो इतना हुआ, कौन है इसका भागी ?

क्या वह मैं ही नहीं ? "नहीं, वह दुष्ट दरोगा"—
बोल उठा धनराज—"वैर लेना ही होगा।"
तो लेकर ही वैर करूँगा जो करना है,
जीना ही तो कठिन, सहज सबको मरना है।
मैंने उठने दिये भाव जो उठे हृदय में,
रोके उनका वेग, शक्ति थी किस संशय में ?

घबरा को सब पिता अन्त मे बता गये थे
मुझे जानने योग्य यही वे जता गये थे·
"स्वयं जो न कर सको, दूसरों से मत कहना
फिर कोई डर नहीं तुम्हें, तुम सच्चे रहना

घर में चारों ओर दृष्टि जो मैंने डाली
पूर रही थीं इधर उधर मकड़ी ही जाली
सुध मे आकर कौन आज थी मुझे दुखाती
ऋतुस्नान कर खड़ी धूप में केश सुखाती
की थी उसके साथ यही तो एक ढिठा
झटकी थी लट पकड़ नागिनी-सी लहरा
डसती है वह मुझे ! अंग सुन उसके कौं
भौंह चढ़ाकर घूम ओंठ थे उसने चौं
भागा मैं, वह किये जा रही पीछा अब :
तब भी तब भी हाय ! क्या कहूँ, तब भी तब

रात वही लट मुझे ले गई कस कर, गॅस कर,
माँगी मैंने क्षमा बैठ कर, बस कर, हँस कर।
सुप्रभात क्या उसी रात का ऐसा होगा—
ले जावेगा पकड़-धकड़ कर मुझे दरोगा।
वही दरोगा, जिसे मिला अधिकार इसीका,
अहित कभी कर सके न कोई कहीं किसीका।

"लल्लू जो हो गया हुआ, अब भार सँभालो,
भीतर बाहर जथा जुगत सब देखो भालो।
मल्लजुद्ध अब नहीं, जूझना होगा सच्चा,
जब तक जिसका बाप, तभी तक है वह बच्चा।
काल कठिन है, कड़ा करो अब तुम अपने को,
करने को है काम, नाम प्रभु का जपने को।
कक्कू गये, परन्तु आज भी मैं बैठा हूँ,
हार-खेत में चेत हुए से ही पैठा हूँ।
लोगों से तुम निभो, ढोर डंगर घेरूँ मैं,
जो आँखों में बसा वहाँ घर फिर हेरूँ मैं।
हाय! तुम्हारी बहू, रही इस घर की रानी,
वैसी ही मैं खोज न लूँ तो मैंने जानी!"
पर चतरा, तू कहाँ पायगा जो चाहेगा?
दागी को कह, कौन बाप बेटी ब्याहेगा?
"रहो, ब्याह पर ब्याह करूँ गौने पर गौना,
जो यह झूठ कलङ्क लगा, सो बने डिठौना!"

मैं रोया वा हँसा, न समझा कुछ वह भोला,
संयत होकर किसी भाँति मैं उससे बोला।
पहले प्रायश्चित्त तीर्थ जाकर कर आऊँ,
पर जो ऋण है उसे चुका लूँ तब मैं जाऊँ।
"तुम हो किसके रिनी ? तुम्हारे ही कितने ही।"
मैंने उनको मुक्त किया वे हों जितने ही।
पर तेरा ऋण तात ! चुकाऊँगा मैं कैसे?
उसने उत्तर दिया—"न बोलो लल्लू, ऐसे।
कक्कू ने है मुझे पूत जैसा ही पाला,
घर जब जो कुछ हुआ, आप ही उसे सँभाला।"
तो अब यह घर तू सँभाल, यह इच्छा मेरी,
होकर मैं निश्चिन्त लगाऊँ लम्बी फेरी!
"भीख माँगकर—क्यों न ?"—सिहर कर डोल उठा वह,—
"मेरे जीते हुए?" बिगड़ कर बोल उठा वह।
"हाय राम! क्या मैं न भले मर भी पाऊँगा,
कक्कू को जा वहाँ कौन मुँह दिखलाऊँगा?
अब गृहस्थ है कौन, सभी साधू-सन्यासी,
तुम तो ऐसे नहीं कि जिनको 'सम्पति नासी!'
बड़े बाप के पूत, हाय! जी करो न छोटा,
खरे वंश का लोप, करम यह सबसे खोटा!"
यह सब प्रभु के हाथ, हमारे साथ नहीं है,
"पर करनी भी क्या मनुष्य के साथ नहीं है?"
जो हो, खत्ती और ढोर ढंगर सब तेरे।
"पर क्या उनके जोग ठौर है घर पर मेरे?

दे सकते हो और दे रहे हो तुम इतना,
पर सोहेगा मुझे विचारो तो यह कितना?
हो जाऊँ मैं धनी, जाति तो वही रहेगी,
मेरी मति ही कहो, इसे किस भाँति सहेगी?
मैं अपनों में अलग दिखाई दूँगा कैसा,
फट्टे पर से हटा दिया जाने को जैसा!
रही राख की राख, लाख भी जिनने जोड़े,
मिले मुझे जो हाथ-पैर, वे ही क्या थोड़े?
इतने ही के लिए क्यों न मैं भाग सराहूँ,
जो समाज के लिए न हो, उसको क्यों चाहूँ?
छुटके को कुछ भले पढ़ा लो, जो पद पावे,
पर इतना लिख सके न वह, जो जाल बनावे।
तुम हो, फिर क्या नहीं, रहे मेरा मन मौजी।"
पूछा मैंने—गई मायके है क्या भौजी?
"हाँ, पहिनाना उसे एक सोने की सेली,
फिर भौजी को कहें भले ही लोग रखेली!"
दुष्ट, दूर हो मुझे क्रोध आता है सचमुच,
"तो जो चाहो करो, रहा घर में ही बचखुच।
रही सही भी कमी साधुपन की मिट जावे,
तुम्हें क्रोध, पर मुझे हँसी वा रोना आवे?"
चला गया वह, खड़ा रहा मैं भ्रान्त सरीखा,
फिर गिरता-सा बैठ गया अति श्रान्त सरीखा।
कहाँ बैठ भी सका, उठा मैं ढिकला ढिकला,
घुटती थी घर साँस, गाँव के बाहर निकला।

नाम बड़ा था, ग्राम किन्तु ऊजड़-सा खेड़ा,
टीले पर था एक ओर थाने का बेड़ा।
आया था अब नया दरोगा वहाँ बदलकर,
पहले वाला किन्तु कहाँ जावेगा छलकर।
तनिक दूर थी नदी, उधर को ही मैं घूमा,
आगे लेकर सान्ध्य पवन ने माथा चूमा।
फेन-हास्य कर खेल शिला-खण्डों से खिल खिल,
लोल लहरियाँ सलिल संग जाती थीं हिलमिल।
ऊपर नीचे जटा-जड़ों में जकड़ा वट से,
एक ओर मठ त्राण माँगता था क्या तट से?
आगे थे दो चार उपल फिर तीखी धारा,
नभ में निश्चल किन्तु चपल था जल में तारा!
हे अम्बर के इन्द्र! अम्बु के वरुण, बता दो,
मेरी वह मानिनी कहाँ है, मुझे पता दो।
दीपक यह झिलमिला रहा है नीचे ऊपर,
कहाँ ओ मेरी दीप-दानिनी! तू किस भू पर?
आ, हम दोनों चले मार्ग लेकर मनमाना,
जहाँ न धन-जन और न कोई चौकी-थाना।
कन्द-मूल-फल खायँ, पियें झरनों का पानी,
नया प्रेम का राज्य रचें हम राजा-रानी!
सहसा मन में प्रश्न किया करारा ने आकर—
'कल्लू-कल्लू! कहाँ जायगा फिर यह चाकर?

प्रेम-राज्य तो यहीं चाहिए सबसे पहले,
जहाँ, कौन है वैर बिना जीता जो रहले ?'

तभी हृदय का वेग थमा जब मैं कुछ रोया,
बढ़ पानी में उतर वहाँ मैंने मुहँ धोया।
चाहा, बैठूँ तनिक शिला पर, पैर उठाया,
उसमें उलझा हुआ निकल क्या जल से आया ?
चाँदी का पैजना देखने पर वह निकला,
काँप उठा मैं—अरे गई यह मेरी विकला!
ज्ञात हो गया, यहीं—यहीं आकर वह डूबी,
होकर अति असहाय हाय ! जीवन से ऊबी।
पत्थर में फँस उसे पैजने ने धर रोका,
पर टेढ़ा पड़ निकल गया, सह सका न झोका।

मैं अधीर हो उठा, नदी भर अभी मझाऊँ,
देखूँ, यदि कुछ कहीं पकड़ लट वा पट पाऊँ!
इच्छा थी क्या यही दरोगा की, मुखिया की,
मिले राख तक नहीं मुझे अपनी दुखिया की!

मेरी लक्ष्मी, चलूँ न क्यों मैं तेरे पीछे ?
पर यह बोला कौन अचानक मेरे पीछे—

"लल्लू, अब घर चलो, रात हो गई अँधेरी।"
ले, उजयारी बढ़ रही यह चतरा, तेरी!
मैंने उसको प्राप्त पैंजना देना चाहा,
कसकर मेरा हाथ पकड़ बोला वह—"आहा!"

हुआ पिता का श्राद्ध, यथा विधि, जुड़े बहुत जन ,
सबने उनका किया शोक पूर्वक गुण - वर्णन ।
मुझको भी सान्त्वना-वचन कहकर समझाया ,
और साथ ही रहन-सहन के लिए चिताया ।
किन्तु भाग्य मे न था भला मानुस बन रहना ,
आया फिर फिर याद मुझे दादा का कहना—
"माँ बन्धन मे पड़ी प्रतीक्षा में है मरती ,
अपना ही धन आज माँगती मुझसे डरती ।
जिसमे बन्धन-जाल कटे वह घोर घिनौना ,
उस लोहे के लिए तुच्छ क्या चाँदी - सोना ?
तू विद्रोही भद्र युवक है, नहीं लुटेरा ,
क्रिया गौण, उद्देश्य मुख्य है निश्चय तेरा ।"

धिक् यदि वह उद्देश्य न अब भी मैंने साधा,
अब तो मेरे लिए नहीं घर की भी बाधा।
गुरिया में ही श्रीगणेश फिर क्यों न करूँ मैं?
पर बोला धनराज, अभी कुछ धैर्य धरूँ मैं।
"सोचूँ उसका दण्ड, जिसे वह सहज न सह ले,
तब तक निबटा जाय दरोगा से ही पहले।
करता हूँ मैं ठीक एक जन उसका घातक।
मैंने उससे कहा—किन्तु यह तो है पातक।
पिता अभी कह गये—"सदा तू सच्चा रहना,
स्वयं जो न कर सके, दूसरे से मत कहना।
वह बोला—"मैं साध कहीं भी कसकर काठी,
साँप मरेगा, भले बचे न बचे फिर लाठी।

था पतरा को छोड़ और कहना क्या किससे,
निकला मैं निज नीड़ छोड़ यात्रा के मिस से।
भय क्या, साथी राम जहाँ चाहें ले जावें,
जाय रिक्त क्यों हृदय, आज वह भी भर आवे!
घर! क्या तेरा छोड़ चला मैं ममता-माया?
तू तो मेरे लिए देश भर में अब छाया।
फिर भी शुभ है राम राम कह आना जाना,
हम सबका है सदा अन्त में एक ठिकाना।
पत्थर लेकर ताप-शिला से मेघ! न गरजो,
सन सन करके तिमिर-पवन! तुम वृथा न बरजो।

जिसका जो शीतोष्ण, वही उसको झेलेगा
प्राणों का ही खेल आज यह जन खेलेगा

करके बन्द किवाड़ साँझ से ही सब कोई,
घुसे घरों में ओढ़ खोर, कम्बल वा लोई।
मानो अब है कहीं न कोई झगड़ा-टंटा,
हम जो निकले, बजा आरती का ही घंटा।

यह पलास-वन पार हुए जब दोनों सङ्गी,
मिला सामने 'राम राम' कह भोला भङ्गी।
"लल्लू भैया, कहाँ? गई पच्छिम की गाड़ी,
पूरब की आ रही पार करके वह झाड़ी।
रज्जू आये नहीं, गये थे विदा कराने,
मैं बहली के साथ गया था उनको लाने।"
सुन रज्जू का नाम धनू जैसे कुछ भड़का,
वह था मेरे जमींदार मुखिया का लड़का।
"बहली अपनी लीक गई, यह तो पगडंडी,
वह होती तो हवा न लगती तुमको ठंडी।
लौट चलूँ मैं साथ? रेल तो पा न सकोगे,
टेसन अब भी दूर, दौड़कर वृथा थकोगे।"
नहीं नहीं, जा. काम नहीं भोला, कुछ तेरा,
इसी रेल मे एक स्वजन आता है मेरा।

नहीं हमारे साथ जनी-मानस, क्या डर है।
"पर भैया अब ब्याह करो तुम, सूना घर है।
लौटा कर फिर कौन ला सका है बीते को,
भरे वही भगवान यहाँ सबके रीते को।"

चला गया वह और बढ़े हम दोनों आगे,
बुनता था मन यहाँ कहाँ के धर कर धागे।
बन पाता था नहीं एक भी पूरा बानक,
चल कर थोड़ी दूर रुका धनराज अचानक।
"रज्जू तो वह रहा!" कहा उसने टक लाकर—
"लौटा होगा इसी रेल से आगे जाकर।
चढ़ने से भी कठिन रेल से अभी उतरना,
दुलहिन भी है साथ।" रहे, हमको क्या करना?
"करना है!" कह झपट चला वह मतवाला-सा,
आगे ही था ढाल, एक सूना नाला-सा।
उन दोनों से वहीं सामना हुआ हमारा,
चौंक चीन्ह कर हमें उन्होंने चेत न हारा—
"कहाँ चले तुम लोग?" "तुझे ही तो लेने को!
देना है जो शेष, उसे भी भर देने को।
जा तू, इसकी बात करूँ, क्या यह, वहीं तू,
अपनी पत का इसे लुटेरा समझ नहीं तू।
तेरे पति-सा पतित नहीं मैं, पर कुछ बोली
तो मेरा चीत्कार बना देगी यह गोली!"

रखता है पिस्तौल धनू, कब किसने भाँपा,
वे दोनों ही नहीं, देखकर मैं भी काँपा!

मूर्च्छित-सी थी वहू और जड़-सा अब रज्जू,
कहा धनू ने—"जान लिया मैंने सब रज्जू!
सुन, निज युवती सुता साथ ले साईं बन्दा
करने आया उसे व्याहने को था चन्दा।
वह लड़की थी सुघड़ और अल्हड़ अलबेली,
बनी गाँव में बहुत घरों की सहज सहेली।
खाना पीना उसे अधिक ही मिल जाता था,
उसका मधुर स्वभाव यहाँ सबको भाता था।
उस दिन, जब मैं सदर गया मुखिया को लेकर,
जामिन होने हेतु उसे मुहँ माँगा देकर,
उजियारी हतबुद्धि देखने लगी अँधेरी;
फूफा की प्रत्यक्ष मृत्यु - सी उसने हेरी।
उसको कोई जन्त्र दिया उस लड़की ने ही,
मठ-पूजा का मन्त्र दिया उस लड़की ने ही।
"डर क्या, मैं भी साथ चलूँगी, पर चुप रहना,
पूजा जब तक न हो, न मुझसे भी कुछ कहना।"
पर वह खिसकी तुझे सजाकर अपनी सज्जा,
अब तू कह, क्या हुआ, मुझे लगती है लज्जा।
झूठ कहा तो—" उसे धनू ने मारी ठोकर,
काट लिया निज अधर क्रोध से सुध-बुध खोकर।

वह था मानो रक्त पिये, निज दशा कहूँ मैं?
नहीं, नहीं, कह नहीं सकूँगा, मौन रहूँ मैं।
बोला रज्जू सँभल—"नहीं जा सकता बच मैं,
तो क्यों बोलूँ झूठ, कहूँगा सच ही सच मैं।
मैंने उससे कहा—'पिता ने मिट्टी पाई,
मेरे मन तो तू सुवर्ण की प्रतिमा भाई।
पूरा उतरे कहीं आज यह मेरा सपना
तो तुझ पर सर्वस्व वार दूँगा मैं अपना।'
काँप मृगी-सी चौंक सिंहनी वह बन बैठी,
झट बिजली-सी कड़क कूद पानी में पैठी—
'आजा, मेरे साथ मग्न हो मेरे नेही!'
हाय! खड़ा रह गया देखता मैं तट से ही।'
वह पुकारती गई, भँवर थे उसको घेरे,—
'उन्हें बचाओ, उन्हें बचाओ ईश्वर मेरे!'—"
डूब न सकी पुकार हाय! वह मँझधारा में,
उससे पहले मरा नहीं क्यों मैं कारा में!

फटे ओंठ का रक्त धनू ने उस पर थूका,
"अब तेरा शव उसी खेत का बने बिजूका!"
यह कह वह पिस्तौल शत्रु पर ताने ज्यों ही,
"प्रथम मुझे" कह वह बीच में दौड़ी त्यों ही।
चक्र मार फिर घूम गिरी पैरों पर मेरे—
"उन्हें बचाओ, उन्हें बचाओ ईश्वर मेरे!"

हा ! फिर यह स्वर गूँज उठा क्या उजियारी का ?
लूट रहे हैं हम सुहाग किस सुधहारी का ?
हाथ पकड़ कर खींच ले गया मैं भाई को,
बोला वह—"तुम छोड़ रहे हो अन्यायी को।
जा रज्जू, तज चला काल भी तुझे अभागे !
विफल रहा आरम्भ, न जाने क्या हो आगे !"

आगे जो हो, नहीं आज मुझको पछताना,
निज पत्नी का श्राद्ध किया-सा मैंने माना।
सोच नहीं, आरम्भ शकुन जो सधा न पूरा
फल क्या, रहता स्वयं मनुज का कर्म अधूरा।

पर क्या सचमुच सगुन नहीं मेरा सध पाया ?
दुष्ट दरोगा भी न हाथ हा ! मेरे आया।
विष से विषम विकार भरा है बिगड़े रस में,
एक विभक्त कुटुम्ब लड़ पड़ा था आपस में।
भड़का बैठी आग एक सूखी-सी लकड़ी,
लगी ऐंठ को आँच, रही फिर भी वह अकड़ी।
मार्ग भूलकर भटक, न जाकर पागलखाने,
काका के प्रतिकूल भतीजा पहुँचा थाने !
"चाँदी से तुल गया न ईंधन तो क्या पाया ?"
वह पहले ही साथ दरोगा को ले आया।

जाँच एक घर, किन्तु गाँव भर डर से डोला,
बड़ा दरोगा! डाँट-डपट काका से बोला—
"बेवा लड़की सुना तुम्हारी—" "मुहँ सँभाल बस!"
कहते कहते उठा काल-सा काका कटि कस—
"मैं ठाकुर हूँ, बना आज चाण्डाल भतीजा,
हाय अभागे, क्यों न गर्भ ही तेरा छीजा!"
स्वयं भतीजा चौंक पड़ा सुन नाम बहन का,
उधर दरोगा बना अलग अंगार दहन का।
"बुड्ढे, तेरी यह मजाल! रह, मजा चखाऊँ,
तू ठाकुर है? ठहर, तुझे कैसा पुजवाऊँ!
यह गँवार की जात, बात कहते ही भड़की,
रह सकती है क्या जवान लड़की भी लड़की?"
"अरे भतीजे, सुना गया कैसे यह तुझसे?
मार असुर को मार, समझ लेना फिर मुझसे!"

जल-कुल मिलते देर? भतीजे के ही द्वारा
एक हाथ में हुआ पतित का वारा न्यारा।
आकर मिला फरार हमीमें कह निज करनी,
मुझ अभाग्य के रही भाग में भरनी भरनी!

चतुर परीक्षक कुशल कृती धनराज सुमति था,
संयोजक था वही, नाम का मैं दलपति था।
ले लेता जब पुरुष - परीक्षा बाहर बाहर,
करता था तब सब सम्मिलित वह नर-नाहर।
नहीं जनों का नया नाम ही धरता था वह,
नया रूप - संस्कार साथ ही करता था वह।

देश भक्ति की नई भेट पाकर कारा मे
मैं अपने को मग्न करूँगा नव धारा में।
हा! मेरा यह नया गर्व भी निकला वासी,
उसको था मिल चुका प्रथम ही गुरु सन्यासी।

थी विचित्र वह मूर्ति, चाहिए जहाँ विराजी,
कहते थे हम लोग उन्हें बहुधा बाबाजी।
पहला डाका भी न फला जो हमने डाला,
पर उसका भी नहीं मुझे कुछ कष्ट-कसाला।

उस दिन नई बरात गाँव से कहीं किसीकी,
देख रहा था बाट भेदिया आप इसीकी।
दिन मुँदते ही पहुँच गये हम लोग ठिकाने,
आगे आता कौन आपको आप छिपाने।

मिल कर हम सब लोग आज इक्कीस जने थे,
अपनी ही पद-चाँप आप सुन सन्न बने थे।
असती की चन्द्रिका चमकती थी मटमैली,
नीचे की जो धूल उड़ी सो ऊपर फैली।
साँस साधकर रुका पवन भी ढीला पड़कर,
पत्ता भी खड़क सका न भय से पीला पड़कर!
दीपक रक्खे धरा द्वार भी खुला पड़ा था,
उस पर केवल एक वृद्ध जन अड़ा खड़ा था।
साफा उजला श्वेत, मिर्जई धोती पहने,
ऊँचा पूरा डील उठा मानो नर सहने।
दाढ़ी छाती छाप छोड़कर फहर रही थी,
गङ्गा-यमुना स्फुरित हृदय पर लहर रही थी।

तन ललाट की लीक घनी भौंहों ने भेटी,
कटि मे कसे कृपाण कारतूसों की पेटी।
जमे पैर, बन्दूक तुले हाथों में आड़ी,
स्थिर आँखे थीं देख रही पल पल की नाड़ी।

पूछा हमने कड़क—कौन है? "मैं हूँ भुजबल।"
स्वर था धीर स्पष्ट और निश्चय से निश्चल।
ओहो! भुजबलसिंह दाउजू ये वे विश्रुत,
जिनके अद्भुत कार्य सुने मैने श्रद्धायुत।
भूला जीवन-मरण, हुआ कौतूहल मन मे,
देखूँ मैं भी आज, शेष है जो इस जन मे।
कहा एक ने—"आप दाउजू, जायँ यहाँ से,
और कहूँ क्या, यहाँ बहुत भर पायँ यहाँ से।"
कहा उन्होंने—"बात न थी रहने की मेरी,
पर, भाई, हो गई एक दो पल की देरी।
तब तक तुम आ गये, कहो अब कैसे जाऊँ?
जिससे हित है उसे देखकर भी लुटवाऊँ?
चाहो तो अब तुम्हीं रौंद मुझको घुस जाओ,
मेरे जीते नहीं, मरे पर कुछ भी पाओ।
होगा प्रथम प्रहार तुम्हारा, मैं झेलूँगा,
पीछे कुछ कर सका यहाँ तो कर खेलूँगा।

किन्तु कहूँ मैं एक बात, यदि अनख न मानो,
छजना तुमको नहीं वीर-बाना, तुम जानो।
किस पर तुमने आज यहाँ चढ़ने की ठानी?
कौन यहाँ था, एक राँड़ अबला सेठानी।
यह बनियों भी आज बचा होता वह गुनियों
तो तुमको तो यहीं बताता धुनियाँ-चुनियाँ!
डाके तो हैं कभी बहुत मैंने भी डाले,
पर चींटी पर चढ़े नहीं हाथी मतवाले!
धिक् धिक् धिक्! कर गई लाज भी क्या मुहँ काला,
भंगी भी इस समय नहीं वह पहरे वाला।
मैं विधवा का धर्म-पिता आ गया अचानक,
कर न सकोगे तुम अनर्थ मेरे जीने तक।"
सन्नाटे में गूँज उठी वह निर्भय वाणी—
"खोजो यदि, मिल जाय कहीं चुल्लू भर पानी!
शव-भोजी भी सूँघ सोच कर ही भखते हैं,
नियम-धर्म कुछ चोर-लुटेरे भी रखते हैं।"

पैर पटक कर कहा एक जन मेरा साथी—
"जब तुम हो, तब चढ़ा कहाँ चींटी पर हाथी?"
ठहरो! मैंने कहा—वार कोई मत करना,
अनजाने का दोष क्षमा! मन में मत धरना।
मैंने फिर आदेश दिया दलपति के नाते?—
फिरकर आये सब और गये सब ओंठ चबाते।

खड़ा रहा मैं मार्ग न लेकर स्वयं गमन का,
ऐसे जन को मार करेंगे हम क्या धन का?
मातृभूमि भी सह न सकेगी इतनी हानी,
पावेगी वह कहाँ और ऐसे बलिदानी?
पारस भी है सुलभ, पुरुष पाना दुर्लभ है,
नभ धरती तक रहा, तक रही धरती नभ है।
बोला मुझसे वृद्ध वीर वह धीरे धीरे—
'कितना धन चाहिए तुम्हें हे मेरे हीरे!"
सेठानी भी निकल उसी क्रम में यों बोली—
"यह ताली है भेट" हुई गद्गद वह भोली।

हुआ वृद्ध का मेल सेठ के घर से कैसे,
वह प्रसंग भी रग भरा कौतुक है जैसे।
भुज पर थे नवरत्न, भला भाला था कर में,
घोड़े पर मिल गया सेठ था इन्हें डगर में।
इनका साथी उसे रोक बोला—"सब रख दे!
लिया देखकर बहुत, स्वयं भी आज परख दे।"
"दे तो देता, वणिक-पुत्र हूँ जाना-माना,
पर यह भाला स्वय शूरवीरों का बाना।
इसे लजाकर हँसी कराऊँगा क्या दुगनी?
सम्पत फिर भी फले, नहीं पत तो फिर उगनी।
आप सबल हैं, हरण-मरण भी समझे बूझे,
सफल न होंगे किन्तु बिना इस जन के जूझे।

प्रस्तुत मैं।" हँस कहा इन्होंने—"जा, तू जीता!"
उसने भी हँस कहा—"जा रहा हूँ, हाँ जीता!
किन्तु निमन्त्रण रहा, पधारें कभी कृपा कर
तो चरणों पर स्वयं निछावर हो मेरा घर।"

रहती वसुधा रत्न-शून्य तो फिर क्या बनता?
फिर भी थी निस्तत्त्व सत्त्वहारी-सी जनता।
गाँव गाँव से हम उगाहते मानो कर थे,
लुटने से डर भेंट स्वयं देते सब घर थे।
पहले हम फिर पुलिस लूटती थी दीनों को,
हमसे अड़ती नहीं, पकड़ती गति-हीनों को।

वर्ण वर्ण के लोग जोड़ दल जुड़ा हमारा,
पर सबमें था एक अनोखा भाईचारा।
कैसे कैसे जीव घनू ने चुनकर छाँटे,
गुण विशेष क्या किसी एक गण के हैं बाँटे?
लाया उस दिन घनू एक नाटा-सा नाई,
उसने भी क्या नई साहसिकता दिखलाई।
निहुरे निहुरे नहीं, ऊँट पर चढ़कर धाया,
मध्य नगर से पकड़ एक लड़का वह लाया।
उस लड़के के बाद बाप की घोर बजारी,
बना उसे भी गई अन्त में दौलत हजारी!

कुछ जन नया प्रयोग कर रहे थे जब बम का,
हुआ धड़ाका साथ साथ मेरा सिर धमका।
मेरे माथे कढ़ा लाल टीका भर उससे,
किन्तु उड़ा आमूल एक जन का कर उससे।
वह हँसता ही गया मनोहर दशनावलि से,
"अब यह राक्षस-राज्य मिटा ब्राह्मण की बलि से।"

पर राटके ने कब न हमारी छाती छेदी,
सौ वैरी से विषम एक भी घर का भेदी।

[११]

सह जाते हैं लोग सभी कुछ सहते सहते।
घने घनों में हिंस्र जन्तुओं-से हम रहते।
पड़ना पड़ता हमें खोज खोहों-खड्डों में,
साथ छूटता राह बदलते उन अड्डों में।
बारी बारी जाग जाग हम रात बिताते,
घात बात से सङ्गिजनों को चौंक चिताते।
थे झरने थे कुण्ड और नदियों की लहरें,
जाते झटपट डोल, चाहते जब हम ठहरें!
देखा हा! वन-सुमन-पवन झूठे ही झटके,
झड़ते हम तो जहाँ वहीं काँटों के खटके!
चौंका देती भले मोर की कूक जगाकर,
हम सुनते पर पञ्चानन-रव कान लगाकर!

वन - पर्वत ही मुझे बस्तियों से थे भाते,
होती भय से अधिक ग्लानि गाँवों में जाते।
करते हम जो हृदय धड़कता उसमें रह रह,
अनौचित्य प्रत्यक्ष यही था उसका दुस्सह।
पर उसमे औचित्य मानते थे बाबाजी,
मन का दुर्बल मुझे जानते थे बाबाजी।
"हित में है यह लूट स्वय लुटने वालों के,
चीड़ - फाड़ ज्यों व्रण - स्फोट उठने वालों के।"
चाहे जो हो, मरे हुओं को कैसे मारूँ?
धनियों का धन लूट भले अधनों पर वारूँ।
जिन्हें लाभ ही लाभ उन्हें फिर क्या लेना है,
रहे किसी का राज्य, मात्र कर भर देना है।
"यही बात है" एक नया साथी वह बोला
"उन्हीं खलों पर गिरे गाज-सा अपना गोला।
बहुतों का धन मूस बने मोटे जो थोड़े
हमें फोड़ने हैं समाज के वे ही फोड़े।
श्रमियों को वे स्वामि - भक्ति के पाठ पढ़ाते,
उन कोरों पर क्रूर भाग्य का रङ्ग चढ़ाते।
उन्हीं जनों के लिए न हो यदि क्रान्ति हमारी,
तो कैसी सुख - शान्ति, कहाँ विश्रान्ति हमारी?
साम्य राज्य ही इष्ट, नहीं साम्राज्य हमें है,
सच्चा यही स्वराज्य और सब त्याज्य हमें है।"

बापूजी ने कहा—"अरी यह व्यर्थ विलपना,
औरों से तो प्रथम राज्य ले लो तुम अपना।
जैसा चाहो स्वयं स्वेच्छया उसे गढ़ो फिर,
गाँधी किंवा मार्क्स किसी के पाठ पढ़ो फिर।
पर निज को, निज देश काल को तुम न भुलाओ,
करके अपने योग्य भले ही कुछ अपनाओ।
भावुक भूल न जाय, मार्क्स ने स्वयं कहा जो—
'अहो भाग्य है, मार्क्स मार्क्सवादी न रहा जो!'

धनियों से ही प्राप्त किया जा सकता धन है,
यही क्षोभ है आज, क्षुद्र ही उनका गण है।
जो वे भरते उसे अवश बहु जन भरते हैं,
बहु संख्यक ही बहुत त्रास भोगा करते हैं!
गुरु गणना का भाग काटती है लघु गणना,
और शून्य के लिए शेष रहती है रणना!
हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न हमारा है ऐसा ही,
होते हैं बहु यत्न, किन्तु वह तो वैसा ही।
मुसल्मान अधिकांश यहाँ के वे हिन्दू जन,
किया जिन्होंने धर्म और निज वंश-विसर्जन।
बदलें हम निज भाव, भूमि तो वही रहेगी,
अन्य कहाँ तो कहाँ हमारा भार सहेगी।

कहाँ जायँगे, रह न सकेंगे जो हम रस में?
निभना होगा हमें निभाकर ही आपस में।
पर ये बातें रहें, भूमि के बन्धन कट लें,
जो हम दो के बीच, उसीसे आज निबट लें।
दूर न जाओ, यहीं देख लो, जो दलगत हैं,
संख्या के ही साथ बढ़ रहे उनके मत हैं।
एक सूत्र यह बना रहे, जो सबको जोड़े,
टूट जाय वह आप, दूसरे को जो तोड़े।

हम अनुशासन रख न सके तो मरण हमारा,
उससे भी दुर्भाग्य, नष्ट होगा श्रम सारा।
प्रतिपक्षी इस बार पड़े हैं पीछे ऐसे
यही काम रह गया उन्हे, करने को जैसे।
आई है इस बार पुलिस को भी कुछ लज्जा,
की है उसने इधर हमारे लिए सुसज्जा।
सेना मे भी उधर प्रवेश हुआ है अपना,
वही हमारा सत्य, दूसरो का जो सपना।

लूटी जो तहसील मिला अच्छा धन उसमे,
लुटे स्वय भी किन्तु हमारे दो जन उसमें।
उनको तो मरभुखे बहुत से मिल जावेंगे,
हम निज रिक्त स्थान सहज क्या भर पावेंगे?"

बोल उठा बनराज—"एक मैंने ही मारा,
उसका साथी रहा दूसरा भी बेचारा!"
मैं विस्मित रह गया देख उसकी स्मित-रेखा,
बाबाजी ने उसे स्वयं भी हँसकर देखा—
"इस प्रकार की कठिन लड़ाई जो लड़ता है,
अपनों से भी उसे सजग रहना पड़ता है।
जो हो, कुछ दिन शान्त रहें सब दूर बिखर के,
लौटूँ जब तक स्वयं केन्द्र की बैठक करके।

प्रतिबन्धों ने कठिन कर दिये हैं सब धन्धे,
धूल बची है, बने इसीसे बैरी अन्धे।
एक बहाना हमें चाहिए बाहर बाहर,
नीचे बम बम चले, सुनें ऊपर सब हर हर!
जड़ी-बूटियाँ शेष हमारी जानी-मानी,
हो थोड़े से रुग्ण, बहुत फिर कोरा पानी।
किन्तु पेच अब देख, बने देशी इंजेक्शन,
कोकशास्त्र तो नहीं, साथ ज्योतिष का सेक्शन।
नष्ट कुंडलीचक्र अँगुलियों पर नच सकता,
पर भविष्य-फल गणिक चतुरता का मुँह तकता।
फिर भी हम धर्मार्थ वस्तुओं के ग्राहक हैं,
सुलभ सभी को संत मंत के सौ गाहक हैं।
ईश्वर का आदेश मान, हम तो घर जावें,
बिना चढ़ौती किये कौन दिन कथा सुनावें।

रहे पुराण प्रसंग, नया हो ढंग हमारा,
जितना भी चढ़ सके, भला है रंग हमारा।
होती है हरिकथा महाराष्ट्रों मे जैसी
अखिल देश में क्यों न प्रचारित हो वह वैसी ?
एक दुर्ग में उतर रहे बहु विस्फोटक हैं,
बने वहाँ कुछ बन्धु भारवाही घोटक हैं।
कोई पथ हो आज न जिन लोगों को लक्षित,
बनकर सीधे कॉमरेड वे रहें सुरक्षित !

अब तक तो रथ नहीं कहीं अपना अटका है,
किन्तु—अरे, क्यों मुझे जान पड़ता खटका है।
कहीं दौड़ तो नहीं।" हो गये सब चौकन्ने,
भय वा कौतुक भरे काल-पुस्तक के पन्ने !

सँभलें सँभलें अन्धकार में हम जैसे ही,
सन सन करके निकल गई गोली वैसे ही।
हमने भी तत्काल दिया उत्तर गोली से,
बाबाजी ने कहा अटल स्वर में टोली से—
"मेरे पीछे—इधर, आड़ पेड़ों की लेकर,
एक एक के तीन तीन से उत्तर देकर।
एक ओर के ही प्रहार का यह आशय है,
नहीं हमारे लिए घने घेरे का भय है।"

फिर हँस बोले—"सदा अल्प संख्यक बाधक हैं,
फिर भी वे वैतनिक और हम सब साधक हैं।"

रिपु थोड़े हों, किन्तु एक गोली क्या थोड़ी?
आकर उसने, कुशल यही, पिंडली ही फोड़ी।
घर न रहा धनराज सहारा पाकर मेरा,
गिरिकानन में हुआ हमारा दूर सवेरा।

च निकले सब इधर-उधर, हम दो ही जन थे,
रे हुए मन किन्तु थके हारे से तन थे।
ुप सारे दिन पड़े रहे हम सजग सँभल के,
ारा फलों से पेट अन्त में थे हम हलके।

ार्नी गर्दा-सी पहिन नदी का मुकुट पहाड़ी,
क्षक - सेना घनी घनी काँटों की झाड़ी।
ीचे सरिता घूम चली थी परिखा बनने,
ा रक्खा धनराज यहीं अपना इस जन ने।

सन्ध्या आई स्वर्ण-सलिल का टीका करने,
झटपट नीचे उतर चला मैं पट-घट भरने।
मध्य मार्ग मे सुनी अचानक मैंने घों औं,
हाय गाय सी वनस्थली की व्याकुल वों औं!
साथ साथ चीत्कार सुना मैंने मानव का,
आकर्षण था प्रबल प्राप्त भय से उस रव का।
अस्त मार्ग में व्यस्त गमन लटपटा रहा था,
जाकर देखा, एक पुरुष छटपटा रहा था!
निकले उसके प्राण, न निकली मुहँ से बोली;
मधे हाथ की पड़ी कनपटी पर थी गोली।
पास पड़ी थीं एक नहीं, दो दो बन्दूकें,
भीतर ही रह गईं भरी सब हूकें-लूकें।
दो थे वे, जो रात लगा बैठे निज पण थे,
एक वहीं हत हुआ, दूसरे के ये क्षण थे।
दह मे इसे समाधि मिली, उसकी प्रभु जानें,
शस्त्र-वस्त्र ले पहुँच गया मैं पुनः ठिकानें।

हम दो का था नियम, एक जब नीचे जाता,
दूर दूर तक ताक दूसरा उसे रखाता।
जब आवें ने वार करे यह मेरे ऊपर,
ले पैठी तब इसे धनू की गोली सूपर।

वातावरण विपण्ण, सोचता था मैं लेटा,
बात उन्हीं की, घोर घात ने जिन्हें समेटा।
हो सकता है, वही सहारे हों निज कुल के,
मरें न अब असहाय बाल बच्चे घुल घुल के।
मैं मरता तो ध्यान धनू का रहता थोड़ा,
छोड़ गया कुल मुझे, धनू ने कुल को छोड़ा।
क्या जीवन क्या मरण हमारा अब जगती में ?
चलता है फिर काल-धर्म क्यों धीमे धीमे ?
जो होनी, हो जाय शीघ्र उसका निपटारा,
सीधा सुगम-मार्ग धरे जीवन की धारा।

कहा धनू ने—"सोच रहे हो तुम क्या इस क्षण ?"
कब तक—मैंने कहा कि—कब तक यह संघर्षण ?
"देख रहा मैं इधर कि तुम बन मूढ़ रहे हो,
कब मरने की सन्धि मिले, यह ढूंढ रहे हो।
यह भी एक प्रकार आत्महत्या है मानो
तुम अब अपने नहीं, देश के हो, पहचानो।
उस दिन हम थे चार, विपक्षी बारह आगे,
जड़-से तुम अड़ गये, समय के सङ्ग न भागे।
स्तब्ध हुए वे देख तमंचा ताने तुमको,
पाकर भी यों छोड़ गये क्यों जानें तुमको।"
पर कब तक यह लुका छिपी यों चला करेगी ?
और अन्त में क्या स्वदेश का भला करेगी ?

करके यों ही ठाँय ठाँय गिनती के मानव
दबा सकेंगे उन्हें, दस्यु जो अपने दानव?
"है प्रचार वह मन्त्र, एक को लाख बना दे,
झूठे को भी एक बार बद साख बना दे।"
पर प्रचार विस्तार पायगा कभी वहीं पर
लुकता-छिपता फिरे प्रचारक स्वयं जहाँ पर?
जो कहना हो, कहें क्यों न हम खुले हृदय से,
क्षण विशेष का मरण भला क्षण क्षण के भय से!
जो नवीन पथ चला उसे ही क्यों न धरें हम?
क्यों न खुला विद्रोह एक पर एक करें हम?
कोई नव मत यहाँ न अपने अनुगत पाता,
तो विचार-वैचित्र्य कहाँ से इतना आता?
खुलकर जिनके लिए करेंगे थोड़ा भी श्रम,
उनकी सहज सहानुभूति तो पावेंगे हम।
प्रतिपक्षी भी देख स्वतः बलिदान हमारा,
होकर अवश अवश्य करेगा कुछ निपटारा।
"बहुतों को मैं देख रहा हूँ यह भी कहते,
पर धारा में नहीं नित्य केशव अवतरते।
जब जब नेता बना चला आता है निश्चय!
बोलो तुम भी भले महात्मा गांधी की जय!!
इसके आगे?—एक नया प्रवचन गीता का!
राम-बाण भी त्राण न कर पाते सीता का!!
गांधीजी के गऊ धर्म ने वही किया है!!!"
नहीं, सिंह-भय-दर्प धूल में मिला दिया है।

चिढ़कर मैंने कहा—अल्प है क्या इतना भी ?
कर ले हम उपहास आज उनका कितना भी।
दलितों को बल मिला, दम्भ का गढ़ टूटा है,
कोटि जनों का कण्ठ आज उनमे फूटा है।
कह, वह हिंसाधर्म मानता है क्या तू भी ?
पागल कुत्ते वध्य मानते हैं बापू भी।
भाव - भेद है, जहाँ इष्ट है हमे उबरना,
उन्हें इष्ट है कष्ट स्वयं कुत्तों का हरना।
"पागल कुत्ते भी न मरेगे तुमसे, जाओ!
लेंगे उनका भार हमीं, तुम राख रमाओ!
किन्तु अगम वह मार्ग जानते हो जो कहते ?
क्या निष्क्रिय प्रतिरोध सहज दो दो कर रहते ?
हाथ कटा कर जगन्नाथ भी मै न बनूँगा;
सौ सौ को जो एक हने, मैं उसे हनूँगा।
जो अधमांस विकार सदृश हैं मानवता के
क्यों न काटकर दूर करें हम उन्हे जता के।"
किन्तु अहिंसा नीति रूप मे ही मै मानूँ,
तो अनीति क्या ? क्यों न उसीको बहुत बखानूँ ?
"स्वय अहिंसा - धर्म मानता हूँ मैं दादा!
पर होती है एक धर्म की भी मर्यादा।
भिन्न भिन्न हैं मनुज मनुज की मति-गति सीमा,
दौड़ जाय या चले भले वह धीमा धीमा।
जा सकता हूँ साम्यवाद तक अपनी गति से
मैं हाँ नहीं, परन्तु विवश हैं सब निज मति से।"

किन्तु घृणा की नींव डाल जो भवन खड़ा हो,
पावेगा वह प्रेम कहाँ तक, लाख बड़ा हो।
होगी इससे अधिक दूसरी क्या किंकरता,
निज विचार-बलि लिया करे हमसे जो परता।
जिसको देखो, खड़ा वही तो खाने को है,
जावें क्यों इंग्लैंड, रूस यदि आने को है?
"रहें रूस इंग्लैंड सभी अपने घर सुख से,
करें-कहें हम यहाँ स्वयं निज कर निज मुख से।
पर अपने घर आप कहाँ हम रह पाते हैं?
कर पाते हैं कहाँ, कहाँ कुछ कह पाते हैं?

महायुद्ध ले रहा आज भी अपनी बलि है,
शासक-दल में मूर्तिमान हो प्रकटा कलि है।
परवश हैं हम, यहाँ घसीटे गये इसीसे,
और नहीं तो कहाँ हमारा वैर किसीसे?
फैली है सब ओर घोर जो शोषक सत्ता,
हमसे मनवा सके न अपनी और महत्ता।
रौंध सके अब और न उसको बैलटशाही,
नंगी जिसकी एक नीति है हैल्टशाही!
उल्टी सीधी सड़क सुझाती है वह हमको,
रखने को निज गर्व झुकाती है वह हमको।
यदि वह भूखों मार हमें यों बाध्य न करती,
करती कैसे [illegible] सेना की भरती?

कहते हैं जनयुद्ध इसे जो बन जन नेता
विदेशियों के क्रीत, देश के वे विक्रेता—
सच्चे नेता आज हुए जब अपने बन्दी,
तब ये बनने चले हमारे शिव के नन्दी।
"जो हो, निर्मम आज सूंघते फिरते घर घर,
बनकर बर्बर विपक्षियों के किंकर चर वर।

सड़े क्यों न वह अन्न, हठीले हड़प रहे हैं,
लाख लाख जन इधर भूख से तड़प रहे हैं।
चन्दा देकर छूट मिली है वणिग्जनों को,
करें एक के बीस, भरे दुर्भर भवनों को।
हाय! कहीं खा जाय बाप ही न इस विपद में,
शिशु को लेकर कूद मरी माँ ह्रद मे नद में।
स्वर्ण-भूमि की धूलि उड़ी है इनके द्वारा,
इनकी कौड़ी रहे, जाय सर्वस्व हमारा।
लूट लिया धन-मान खलों ने है क्या छोड़ा?
चूंद चूंद तक खूंद खूंद कर हमें निचोड़ा।
रक्खें कैसे लाज आज लक्ष्मियाँ हमारी,
धन्नी भी तो नहीं छोड़ते ये अविचारी।

होकर बोध-विहीन, यथा मणि-हीन भुजङ्गम,
क्षुब्ध हो गए एक साथ जैसे जड़-जङ्गम।

दल के दल बढ़ चले, भले पीछे कुछ झेले,
कटे मार्ग, पुल टूटे, रुकीं उनकी वे रेलें।
वे तहसीलें लुटीं और वे थाने टूटे,
अधिकारी भी आत्म समर्पण पर ही छूटे।

सदा प्रकृति-वश पुरुष, किन्तु क्या करे निहत्थे,
उन्हें झेलना पड़ा, पड़ा जो उनके मत्थे।
ये भूखे भेड़िये भयङ्कर भूरे भूरे,
नेदरसोल समान परीक्षित शिक्षित पूरे,
लेकर सज्जित सैन्य साथ सहसा चढ़ धाये,
बाल-वृद्ध नर-नारि कौन फिर बचने पाये?
घर में कुछ सन्देह जनक न रहे, घर तो है,
खड़ा खड़ा चल पड़े न वह भी, यह डर तो है!
लूट गाँव के गाँव इन्होंने फूँक उजाड़े,
आने को था कौन वहाँ पर इनके आड़े।
अनाचार था कौन, जिसे छोड़ा करने से?
जो जीते बच गये, गये जीते मरने से!
पलक बाल तक खींच उखाड़े गये जनों के,
छिपे अंग भी सहठ उघाड़े गये जनों के!
पानी में भी कूद न अबलाएँ बच पायीं,
गईं बँधे पति-पुत्र जनों के आगे लायीं।
इन क्लीबों ने यहीं लाज लुटवायी उनकी,
इनके भय से नहीं मृत्यु भी आयी उनकी।

मैं बोला—यह भला हुआ जो आप पधारे,
जान चुके मेरे विचार भी निश्चय सारे।
यदि इस पथ का त्याग मरण से ही सम्भव है,
तो वह भी स्वीकार, स्वप्न ही वह अभिनव है।
दादा से भी मिला न कारा मे मेरा मत,
फिर भी मैं हो गया प्रेमवश उनका अनुगत।
देख संघटन शक्ति आपकी विस्मित हूँ मैं,
किन्तु देखता नहीं यहाँ भी निज हित हूँ मैं।
विदेशियों से दृढ़ विरोध है अब भी मेरा,
घेरे हैं जो हमें डाल लोहे का घेरा।
भरा वस्तुतः लोभ-पाप तो उनके मन में,
किन्तु भोंकने चले शस्त्र हम केवल तन में।

सबने किया प्रयास सदा तन के रोगों पर,
क्यों अब नये प्रयोग न हों मन के योगों पर?
गांधीजी का यही यत्न, प्रभु करे सफल हो,
क्या बाहर के विघ्न, हमारे भीतर बल हो।

बाबाजी ने मौन पलक ही मूँदे-खोले,
घूम धनू की ओर उसीसे वे यों बोले—
"समाचार है, कई लाख का चाँदी सोना
चला पकड़ पंजाब मेल का कोई कोना।
अवसर भी है और लोभ भी है, यदि पाऊँ,
जाते जाते क्यों न उसे अपनाता जाऊँ?
चल सकते हो?" "अभी इसी क्षण मैं हूँ उद्यत।"
बोल उठा मैं—किन्तु चरण क्या छोड़ेगा क्षत?
"वह ऐसा कुछ नहीं, मिलेगा बहुत सहारा।"
बाबाजी ने सुना पूछकर वर्णन सारा।
बोले वे—"तुम रहो, काम सब चल जावेगा,
शस्त्र-वस्त्र का लाभ सहज शुभ फल लावेगा।"

लिया उन्होंने संघ-नाम अब मेरा—"हरिजन!
पहले तुम्हें हरि करें, महात्माजी के दर्शन!"
धन्यवाद, पर अभी नहीं जा रहा वहां मैं,
भेंट योग्य कुछ जोड़ सका हूँ यहाँ जहां मैं।

"क्या थोड़ी है भक्ति ?" शक्ति तो उसकी तोलूँ,
कर कुछ प्रायश्चित्त योग्य मैं पहले हो लूँ।
"क्या वह प्रायश्चित्त पूर्ण होगा कारा में ?
हम सबकी भी मुक्ति तीर्थ की उस धारा मे ?"
मार दीजिए मुझे दयाकर सीधी गोली,
किन्तु आपके योग्य नहीं यह बोली-ठोली।
"तुम्हें विदित है, नहीं मारने से हम डरते,
मातृघात तक इन्हीं क्रूर हाथों से करते।
पर थोड़ा-सा ध्यान हमे भी धरना पड़ता,
तुम जैसों का त्राण वाध्य हो करना पड़ता।"
हँसकर मुझे तुरन्त अंक मे भरा उन्होंने,
किन्तु साथ ही किया घाव फिर हरा उन्होंने—
"इतनी सी भी बात सहज तुम सह न सकोगे
तो फिर मुखबिर बने बिना भी रह न सकोगे।"
प्रस्तुत हूँ मैं, रहे कठिन से कठिन परीक्षा,
ली है मैंने आज स्वय सहने की दीक्षा।
"पर नृशस वे नृपशु।" आप भी तो निर्मम हैं,
और अधिक क्या कहूँ, स्वयं उनके भी यम हैं।
"व्याजस्तुति वा इसे व्याजनिन्दा मैं मानूँ ?
छूट गया साहित्य कभी का, अब क्या जानूँ ?
रस की बाते गई, आज विप-वल्ली फूली,
धायें धायें रह गई, और सब ध्वनियाँ भूली।
बीच बीच मे किन्तु हँसे-खेले न कहीं हम,
तो समाप्त हो गये बिना सन्देह वहीं हम।

जाते हो तुम दैत्य जनों को देव बनाने!"
इस यात्रा का अन्त कहाँ, ईश्वर ही जाने।
कहता कोई दम्भ इसे, कोई जड़ता है,
औरों की क्या कहूँ, स्वयं हँसना पड़ता है।
"करे व्यक्तियाँ क्यों न साधनाएँ कैसी ही,
त्रिगुणमयी है सृष्टि, रहेगी वह वैसी ही।"
फिर भी क्या विपरीत दिशा में हूँ मैं धावित?
कोई हो वा न हो, आप मैं हुआ प्रभावित।
"हे तापस, तुम अतिथि बनोगे जिन वक्रों के
हाय! कुलिश से क्रूर कुसुम भी उन शक्रों के।"
भय करते हैं आप? "पाप से किसे नहीं भय?
जन-जीवन में नहीं अभय होने में ही जय।
कार्यक्रम क्या मुझे बताओगे तुम अपना?
देखूँ मैं भी तनिक तुम्हारा सुन्दर सपना।'
लक्षाधिक दे गया मुझे साथी बन्दी जन,
मैं रचनात्मक कार्य करूँगा लेकर वह धन।
सौ भागों में बाँट उसे मैं सौ को दूँगा,
सौ श्रमियों को यों समान स्वामी कर लूँगा।
करके सौ उद्योग नवीन प्रयोग करूँगा,
हो सकता है, सौ विपत्तियाँ भोग करूँगा।
कृषि, गो-रस, फल, शाक और मधु उपजाऊँगा,
धातु, दारु, पाषाण विविध विधि घड़ लाऊँगा।

रहँटा लेकर महायन्त्र से मैं उबरूँगा,
चर्मकार बन देश-देव के चरण धरूँगा।
"करने देंगे तुम्हें न यह भी वे छलछन्दी,
होना होगा शीघ्र उसी कारा का बन्दी,
जिसका साक्षी रूप स्वयं मैं भाग बचा हूँ;
अधिक क्या कहूँ, प्राण मात्र से नहीं पचा हूँ।

कोड़ों से जो बची देह कीड़ों ने खाई,
किन्तु उन्हें मिल सकी रक्त की ही उबकाई।
रहे पूछते नाम-धाम सौ वार विसासी,
मेरा परिचय रहा एक—मैं भारतवासी।
वे व्यवसायी जीव एक से सब पथचारी,
नर क्या पशु भी नहीं, मात्र वे हैं व्यापारी।
कैसे कैसे भाव-ताव करते वे आये,
मिस—कन्या—तक मुझे दान करने को लाये।
मैंने उससे कहा—'दृष्टि अक्षत है मेरी,
ढँक न भले सिर बहन, अधखुली छाती तेरी।'
मुझे मार ही भली, प्यार पर थू है इनके,
मैंने वे दिन नहीं, कल्प काटे हैं गिनके।
प्रहरी ही थे भले, यन्त्र-से वहाँ विचरते,
छेड़ छाड़ क्या, न थे बात तक मुझसे करते!
मूर्च्छा मिलती रही नहीं आई यदि निद्रा,
फाल चढ़ाने चला अन्त में नई दरिद्रा।

पर क्या मेरी वधू मुझे फिर मिलने को थी ?
इस मानस की मुँदी कली फिर खिलने को थी ?
निश्चय था, उस अन्ध गुहा में मरूँ अभोजी,
पर मेरों का नाम न सुन ले ये खल खोजी।"
मौन हुए वे, आह भरी हम दोनों ने सुन,
किन्तु लिया था मार्ग स्वयं मैं ने अपना चुन।
बाबाजी, आशीष मिले इस अज्ञ अजित को,
भूलूँ मैं भी नहीं वहाँ अपनों के हित को।
"बन्धु, तुम्हें आशीष आप अपने को देना,
सौ भँवरों से मुझे नाव जैसे हो खेना।"
फिर हँस बोले—"हुआ,—हो चुका निश्चित सब तो,
मत-परिवर्त्तन नहीं,—'हृदय-परिवर्त्तन' अब तो,
उजियारी भी नहीं कदाचित् कर सकती है!"
फिर भी निर्भय वह स्वधर्म पर मर सकती है।
"यह सच है, जो विगुण-धर्म भी अपना धरता,
रज्जू ही क्या, नहीं किसी का मारा मरता।"
फिर हँस बोले,—"पुनर्जन्म होता है हममें!"
तत्क्षण उठकर बढ़े विषम पथ पर वे तम में।
क्षण भर रुकिए! उग्र हुआ सहसा स्वर मेरा,
पर निष्फल रह गया बढ़े हाथों का घेरा।
गया कान में व्यङ्ग्य बाण-सा उनका तीखा—
"आज सुनना नहीं, सुनाना मैंने सीखा!"
चाहा ज्यों ही झपट बढ़ूँ मैं उन्हें सलज्ज्स,
हाथ पकड़ कर कहा धनू ने—"व्यर्थ परिश्रम।"

छपपट करने लगा विना जल का मैं झष-सा,
लगता था वह काल कठिन पाषाण निकष-सा।

यह सब क्या है धनू?—"परीक्षा प्रकट तुम्हारी,
मिले सफलता तुम्हें स्वय बनकर उजियारी।"
जीती है वह? "कही अभी यह बात उन्होंने।"
पर क्यों मेरे साथ किया यों घात उन्होंने?
"तुम थे दीक्षित हुए, वाध्य थे वे इस कारण।"
आज क्यों कहा?—करूँ न मैं निज नव पथ धारण?
"नहीं, किन्तु तुम भेद न डालो दल के द्रुम को,
और मारना नहीं चाहते थे वे तुमको।"
फिर भी मुझ पर अविश्वास क्यों किया उन्होंने?
"नहीं, सहन के लिए नया बल दिया उन्होंने
उजियारी का त्राण व्यर्थ हो जाय न जिसमें।"
कपट - कल्पना - जाल नहीं हो सकता इसमें?
"करते तब वे कपट, तुम्हें जब मार न सकते,
अथवा उस डूबती हुई को तार न सकते।
नहीं तीर से मुझे देखने थे वे आये,
यह सुन मैंने आज सभी अनुमान लगाये।"
यों उसका उपकार विलक्षण किया उन्होंने,
उसे बचाकर क्या सुदीर्घ सुख दिया उन्होंने।
"किया उन्होंने द्विगुण पुण्य धारा में घुस के,
उजियारी हो न थी, गर्भ भी तो था उसके!"

तीन वरस हो गये, कहाँ-कैसे उजियारी ?
क्यों कर जीती रही निपट 'गति-हीना नारी ?
निश्चय उसकी गोद विधाता ने भर दी है,
और मृत्यु भी उसे असम्भव यों कर दी है।
कठिन काल फर न जाय जिसमें नाश हमारा,
मरणोत्तर भी रहे नवीन विकाश हमारा,
मानों थी यह वात जन्म से समझी-बूझी,
और नहीं किस लिए झेलने से वह जूझी ?
जाती तो वह कहाँ, गेह था उसका सूना,
सहता कोई नहीं वहाँ छाया ,तक छूना !
कुलटा का भी दम्भ व्यर्थ जो वहाँ न भड़का,
'हत्यारी आ गई गोद में लेकर लड़का"

बच निकलूँगी तैर, सोच पानी में पैठी,
निकल न पाई किन्तु, प्रखर धारा घर बैठी।
बाबाजी ने पहुँच अर्द्धमृत उसे उबारा,
फिर भी क्या पा सकी हाय! वह कूल-किनारा।
वंचित रक्खा गया मुझे उससे किस कारण?
मैं सब से निश्चिन्त रहूँ दल में, इस कारण!
दिया गया अब वही लोभ, जो बना रहूँ मैं,
दल को छोड़ूँ नहीं, उसी में सना रहूँ मैं।
मेरी मति - गति आज परस्पर उलटी लौटी,
और परीक्षा लिये खड़ी है यही कसौटी।
ओ हो! मेरे साथ हुआ यह कैसा छल है,
उजियारी की सहनशक्ति का ही अब बल है।

सहज मिलन भी विवश भाव से मैं स्वीकारूँ,
तो अच्छा है यही, प्राण तक उस पर वारूँ,
उजियारी निज प्राप्य हार के हाथों पावे,
तो अच्छा है यही, बिना पाये मर जावे।
हो सकता है, आज भले घर की वह दुलहिन
काट रही हो कूट - पीस कर अपने दुर्दिन।
'मुख मलीन, तन छीन,' फटी मैली धोती हो,
पड़ी सील मे कहीं रात भर वह रोती हो।
आती होगी झींम तभी शिशु रोता होगा—
"चुप रह अब तो अरे, तुझे लेकर यह भोगा।"

आया मुझको स्मरण स्वतः दादा की माँ का,
चलता है उस परम्परा का पथ यह बाँका।
बाबाजी ने मुझे रत्न से वञ्चित रक्खा,
पर क्या उसको नहीं यत्न से सञ्चित रक्खा।
सम्भव है, वह कष्ट न बाहर से पाती हो,
ऐसे रक्खी गई कहीं जैसे थाती हो।
माँग राम से एक मात्र मेरी ही भिक्षा,
सम्भव है पा रही वहाँ हो वह कुछ शिक्षा।
रहता फिर भी उसे इन्होंने दिया न होगा,
सब कुछ करके 'व्यर्थ कार्य' यह किया न होगा!
उलझ-उलझकर नित्य भले ही कटे-मरें हम;
यम ने देखा द्वार, भले ही कहा करें हम,
महायन्त्र चल पड़े, चलें न चलें वे आगे,
पर तो बाँधे रहें आज घर घर के धागे।

आज मारने नहीं, जा रहा हूँ मैं मरने,
इसी बीच जो बने, उसे साधे मैं करने।
लौटूँ अथवा नहीं, मिले न मिले मृत-त्राण,
किन्तु मुझे भय नहीं आज मेरा भव-पार।

आज अहा! इस अन्धकार के छाया-पट पर
तारक तारक चला एक चल-चित्र प्रकट कर।
कैसे कैसे सती-शूर तपते आते हैं,
क्या क्या शुभ सन्देश हमे देते जाते हैं।
विविध पन्थ निज दृश्य दिखाते नये नये हैं,
एक लक्ष्य की ओर घूमते चले गये हैं।
दल-वल बाँधे लोग वहाँ चलते-फिरते हैं,
फिर उठते हैं धूल झाड़कर, जो गिरते हैं।
ले हम कोई मार्ग, स्वय जाना ही होगा,
वह सत-चित्-आनन्द हमें पाना ही होगा।
हे वन के प्रिय पवन! गन्ध भर उसका पाकर
कैसे बैठा रहूँ अन्ध तम मे भय खाकर?
जीवन का वह स्रोत जहाँ, चल मरण हमारे!
जिसके छींटे छिटक पड़े ये इतने तारे।

जाता हूँ मैं आज सत्य का आश्रय लेकर,
अपनी भव-निधि रक्षणार्थ निज विधि को देकर।
आ भाई धनराज! भेट लूँ कसकर तुझको;
मागूँ मैं क्या और, और अब वसकर मुझको।
प्रेम ठाक है, मोह नहीं है धर्म हमारा;
है अभिन्न उद्देश्य, भिन्न बस कर्म हमारा।

"छोड़ चले तुम आज और मैं रहा अकेला,
लगता है, यह भार वृथा ही मैंने झेला!"
लेकर भी मैं विदा कहाँ जाऊँगा तब तक,
चलने फिरने लगे न तू पहले-सा जब तक।
"मैं इतना बढ़ चुका, कठिन अब पीछे फिरना,
उठते हो तुम जहाँ, वहाँ क्या मेरा गिरना।
तुम निज रचना रचो, यही तुमको क्या थोड़ा,
बनूँ मार्ग का नहीं, नींव का ही मैं रोड़ा!"
रहना होगा मुझे ऋणी रहकर ही तेरा,
धनू! धनू!—रुक सका नहीं अब रोना मेरा।

[१५]

अब जो, उपसहार - क्रिया ही उसे समझिए,
जो निश्चय कर लिया, किया ही उसे समझिए।

बीच बीच में विवश पूछ उठता है मन क्या ?—
होगा चक्र मे इस - हृदय का परिवर्त्तन क्या ?
हो वह चाहे न हो, आप मैं पड़ूँ न कच्चा,
पूज्य पिता कह गये, रहूँ अपने में सच्चा।

"तुम हंसों मे प्रकट एक यह पक्ष हूँ मैं भी,
बापूजी का गुप्त स्वयंसेवक हूँ मैं भी।"

सहमा रज्जू हुआ उपस्थित मेरे आगे,
कितने सोये स्वप्न आज इस निशि में जागे!
आ भाई! कह सका यही मैं अपने मुख से,
भेटा उसने हमें अंक भर सुख से—दुख से।
"पिता गये, वे भोग न पाये भूमि तुम्हारी,
जीवित उनकी बोझ वह अब भी सुकुमारी।
बाबाजी ने मुझे छोड़ने नहीं दिया घर,
मन से मैंने किन्तु उन्हींको भेंट किया घर।
तुमसे मिलने आज यहाँ जब आये थे वे,
पहले से ही मुझे बुलाकर लाये थे वे।
मिले लौटते हुए यहाँ से नीचे फिर वे,
दीखे मुझको प्रथम बार ही कुछ अस्थिर वे।
हँस कर ही कह गये, तुम्हें मैं घर ले जाऊँ,
सुचिर प्रतीक्षित आज स्वजीवन रक्षक पाऊँ।
जाना होगा नहीं कहीं अपनी बलि देने,
आया हूँ मैं आप तुम्हें अपना कर लेने।

रखता चतरा झाड़ पोंछकर अब भी घर है,
उसका लक्ष्य चारधाम की यात्रा पर है।
करता है सन्देह स्वयं यदि उसका लड़का,
तो कहता है—'बैठ, बना फिरता है पढ़का।
गये रेल से आज, लौट आये उस ओरे,
होते हैं इस भाँति कहाँ पारस-मन भोरे।

[१५]

अब जो, उपसंहार-क्रिया ही उसे समझिए,
जो निश्चय कर लिया, किया ही उसे समझिए।

बीच बीच में विवश पूछ उठता है मन क्या?—
होगा वक्ष में इस-हृदय का परिवर्त्तन क्या?
हो वह चाहे न हो, आप मैं पड़ूँ न कच्चा,
पूज्य पिता कह गये, रहूँ अपने में सच्चा।

"तुम इसों में प्रकट एक यह पक हूँ मैं भी,
बापाजी का गुप्त स्वयंसेवक हूँ मैं भी।"

अजित

आया था हे राम ! तुम्हें यह जीवन देकर,
जाता हूँ मैं आज तुम्हारा ही बल लेकर।

एक बार बस और सुमिर लूँ चलते चलते में
उसे, खड़ी जो हेमकूट की तपस्थली में।
नाम भला-सा—शकुन्तला—हाँ, शकुन्तला ही,
दुबली-सी है देह, सोम की शेष कला ही।
लिपट पगों में वत्स डगमगाता जाता है,
भारत का वह भरत जगमगाता जाता है।
भाव मधुर है और हाव है सहज सलौना,
वाहन-सा है साथ साथ बाघिन का छौना।
किसी दमन से क्यों न किया जाऊँ मैं दण्डित।
जननी का अस्तित्व सदा यह रहे अखण्डित।
घर घर जगमग रहे इसीकी उजियारी में,
महत्क्षुद्र का भेद मूल में वा डाली में?
स्वीकारे यह होम शिखा युग युग के हवि को,
नमस्कार उस भरत और भारत के कवि को।

श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त लिखित काव्य—

साकेत	५)	गुरुकुल	१)
यशोधरा	१॥)	द्वापर	२)
सिद्धराज	१।)	हिन्दू	२)
भारत-भारती	२)	जयद्रथ-वध	।।।)
झंकार	१॥)	पत्रावली	।=)
बक-संहार	॥)	वन-वैभव	॥)
सैरन्ध्री	॥)	पञ्चवटी	।।।
अजित	१॥)	हिडिम्बा	॥
प्रदक्षिणा विशिष्ट सं०	१)	प्रदक्षिणा पाठ्य सं०	॥
चन्द्रहास	१॥)	अनघ	
किसान	॥)	शकुन्तला	
नहुष	॥=)	विश्व-वेदना	
काबा और कर्बला	१।)	कुणाल गीत	
अर्जन और विसर्जन	।=)	वैतालिक	
गुरु तेगबहादुर	।=)	शक्ति	
रंग में भंग	।=)	विकट-भट	
पृथिवीपुत्र	।।।)	अञ्जलि और अ	
जय भारत	७)	युद्ध	

प्रबन्ध—नाटि

[illegible]

श्रीसियारामशरणजी गुप्त की रचनाएँ—

कविता

आर्द्रा	१)	पाथेय
विषाद	।=)	दूर्वा-दल
मौर्य्य-विजय	।=)	आत्मोत्सर्ग
अनाथ	।=)	दैनिकी
मृण्मयी	२॥)	नोआखाली में
नकुल	१॥)	गीता सवाद
जयहिन्द	।)	हमारी प्रार्थना

बापू ॥)

उपन्यास

गोद १।) नारी २॥) अन्तिम-आकांक्षा

पुण्य-पर्व (नाटक) १॥) उन्मुक्त (गीतिनाट्य)

मानुषी (कहानी-संग्रह) १) झूठ-सच (निबन्ध)

प्रबन्धक—साहित्य-सदन,

चिरगाँव (झाँसी)

श्रीसियारामशरणजी गुप्त की रचनाएँ—

कविता

आर्द्रा	१)	पाथेय	२)
विषाद	|=)	दूर्वा-दल	१)
मौर्य्य-विजय	|=)	आत्मोत्सर्ग	||=)
अनाथ	|=)	दैनिकी	||=)
मृण्मयी	२||)	नोआखाली में	||)
नकुल	१||)	गीता संवाद	१)
जयहिन्द	|)	हमारी प्रार्थना	–)

बापू ||)

उपन्यास

गोद १|)	नारी २||)	अन्तिम-आकांक्षा	२)
पुण्य-पर्व (नाटक)	१||)	उन्मुक्त (गीतिनाट्य)	१||)
मानुषी (कहानी-संग्रह)	१)	झूठ-सच (निबन्ध)	२)

प्रबन्धक— साहित्य-सदन,

चिरगाँव (झाँसी)